राष्ट्रजीवन की दिशा

☆

• दीनदयाल उपाध्याय

☆

सम्पादक
रामशंकर अग्निहोत्री, भानुप्रताप शुक्ल

लोकहित प्रकाशन, लखनऊ

विषयानुक्रम

क्रम	विषय	पृष्ठ
	दिशा और विश्वास	
	चित्र	
	अनुगूँज	९
१.	परम सुख का मार्ग	१३
२.	'मैं' और 'हम'	१९
३.	राष्ट्र की जीवनदायिनी शक्ति	२९
४.	राष्ट्र और राज्य	३७
५.	राष्ट्र का स्वरूप : चिति	४३
६.	सेक्यूलर : अर्थ–अनर्थ	५३
७.	राष्ट्र : प्रकृति और विकृति	५९
८.	लोकमत–परिष्कार	६७
९	परं वैभवं नेतुमेतत्स्वराष्ट्रम	७३
१०.	संगठन का आधार : राष्ट्रवाद	८५
११.	व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध	९३
१२.	सामञ्जस्यपूर्ण समाज–व्यवस्था	१०१
१३.	दोउन राह न पाई	११५
१४.	विकेन्द्रीकरण	१२५
१५.	गुरुपूजा : स्वदेशी–विदेशी	१३१
१६.	हमारा राष्ट्रध्वज	१३९
१७.	विजय आकांक्षा	१४९
१८.	सारांश (जीवनदर्शन)	१५३
१९.	जीवन झांकी	१७६

दिशा और विश्वास

अर्वाचीन विचारधारा मानवकेन्द्रिक है। अर्थात् जीवन के प्रत्येक अनुष्ठान का मध्यवर्ती बिन्दु मनुष्य है – साधारण मनुष्य। विश्व के प्रत्येक राष्ट्र की महानता इस सामान्य जन की क्रियाशीलता से ही नापी जाती है और फिर हमारा राष्ट्र तो एक ओर विचारों के संधिकाल से गुजर रहा है तथा दूसरी ओर सब दिशाओं से चुनौतियाँ घिरती आ रही हैं। अस्तु, अपने राष्ट्र–जीवन से संलग्न भिन्न–भिन्न विषय, जागतिक जीवन की विचार–भावनाएँ, ज्ञान–विज्ञान के अन्यान्य पहलू आदि में से एक आदर्श चरितार्थ करना है। प्रस्तुत प्रकाशन इसी दिशा में उठाया गया पग है।

ज्ञान असीम है, विचारों की पूर्णता कठिन और न यह उचित ही है कि समस्त विचार जैसे के तैसे ग्रहण कर लिये जायें। हम तो श्रेष्ठ विचारों की चालना के विश्वासी हैं, अतः जागरूक पाठक, राष्ट्र–चेतना निर्माण के इस कार्य में आदर्श को सामने रखकर मूल्यांकन करें और उसका प्रसारण कर समाजहित में सहभागी हों।

प्रकाशक

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी

सं. २०३६ वि०

पं. दीनदयाल जी उपाध्याय के प्रेरणादायी शब्दों को सुनने का अवसर जिन लोगों को मिला वे उन शब्दों की सरलता, गंभीरता और विचारोत्तेजकता से परिचित हैं। उनके सतत प्रवासी जीवन की यह विचार–निधि वे मुक्त हृदय से बिखेरते रहते थे। 'ज्यों नाविक के तीर' वे कठिन से कठिन वैचारिक भंवर में आत्मविश्वासपूर्वक थपेड़े देते थे और साथी संगी सरलता से अपनी नाव इच्छित दिशा में जाती देख कर प्रमुदित हो उठते थे। बोझिल से बोझिल समस्याओं को तर्कपूर्ण ढंग से तार–तार कर देना और फिर कुशल एकाग्रता से ताने–बाने डालकर सबको संजोकर सुघड़ सुन्दर बना देना उनके कृतित्व की विशेषता थी। विश्वास गूँज उठता था कि अब दीनदयाल जी आ गये, सब ठीक हो जायगा। उनका यह क्रम वर्ष भर ही चलता रहता था। फिर भी ग्रीष्म अवकाश में आयोजित होने वाले रा.स्व.संघ के शिक्षण वर्गों का महत्त्व सर्वाधिक था। इन शिक्षण वर्गों में उनके भाषण होते थे।

इन्हीं भाषणों तथा कुछ पुराने लेखों को संकलित कर पुस्तकाकार करने का विचार हुआ। इस कार्य में जो बात उत्साहदायी थी वही चिन्ता का कारण भी थी। पं. दीनदयाल जी के विभिन्न भाषणों में से सारतत्त्व निकालकर लेखबद्ध करना कई भावुक अन्तःकरण वाले जिज्ञासुओं की अभिलाषा की पूर्ति होने वाली बात थी। किन्तु उनकी गंभीर सरलता, स्पष्टता और प्रभावशीलता की रक्षा करना भी दुष्कर कार्य दिखाई देता था।

पं. दीनदयाल जी के इन विचारों को लेखबद्ध करने में जो सबसे अधिक कठिनाई की बात रही वह है उनकी सन्दर्भ–सामयिकता। ये विचार प्रस्तुत करते समय उन्हें तो क्या किसी को भी ऐसी कल्पना होना असंभव था कि कालचक्र की कोई दुष्ट घटना उन्हें हमारे बीच से उठा लेगी। इसलिए अपने समक्ष उपस्थित लोगों को समझाने की दृष्टि से और एक निश्चित समय सीमा के भीतर प्रस्तुत किये गये उनके विचारों को हम आज जब अनन्त समय की विचार लहरियों पर रेखांकित करने जा रहे हैं तब सहसा ही हमें ऐसा अनुभव हो रहा है कि इनमें निहित सूत्रों

के विशदीकरण की आवश्यकता है।

ऐसा अनुभव होना स्वाभाविक ही है। कारण, पं. दीनदयाल जी की विषय प्रस्तुत करने की शैली एक व्याख्याकार की शैली जैसी रहती थी। वे छोटी से छोटी बात के भी गूढ़तम रहस्य को उद्घाटित करने में विलक्षण दक्षता से काम लेते थे। परमपूजनीय श्री गुरुजी ने उनकी इस दक्षता का उल्लेख करते हुए कहा है 'मैं जानता हूँ कि वे मूलगामी विचार करने के अभ्यासी थे। ऊपर-ऊपर से कोई विचार करके छोड़ देना उनको कभी रुचिकर नहीं होता था, इसलिए तात्कालिक समस्या पर बोलते समय या लिखते समय वे उसके सम्बन्ध में किसी न किसी चिरन्तन सिद्धान्त का विचार करके ही अपने शब्दों का प्रयोग किया करते थे।

उनके बोल चिरन्तन सिद्धान्त पर आधारित होते हुए भी सदैव सरल ही लगते थे। यह उनकी अपनी विशिष्ट शैली थी। दैनिक जीवन की हलचलों के भरपूर प्रभाव और उदाहरण प्रस्तुत कर विषय सर्वजनसुलभ बना देना उनकी विलक्षण प्रतिभा थी।

जैसे विचार, वैसा व्यक्तित्व। मधुर, सरल और सुलभ। यही थी उनकी महानता। साधारणतः बड़प्पन दो प्रकार के हमें दिखाई पड़ते हैं। पर्वत की चोटी और अथाह समुद्र दोनों ही महान् हैं। पर्वत आकाश को छूता है और चांद-सितारों से बातें करता है, उसकी तलहटी में खड़ा व्यक्ति उसकी ऊँचाइयों को विस्फारित नेत्रों से देखता रह जाता है और अवाक् होकर उसकी गुरुता के समक्ष नत-मस्तक होता है। कभी उस पर्वत की चोटी तक पहुँचने का विचार भी यदि करता है तो मार्ग अगम और दुर्धर दिखाई पड़ता है। सागर भी महान् है किन्तु उसका विस्तार अलग ढंग का है। सागर की लहरें उमड़-घुमड़कर तट पर खड़े आबाल-वृद्ध दीनहीन जनों के चरणों को छूती रहती हैं। व्यक्ति जब चाहे अपनी अंजुलि में सागर का जल लेकर आचमन कर सकता है, चाहे तो घुटने-घुटने पानी में स्नान कर स्वच्छ हो सकता है और चाहे तो अनन्त अगाध जलराशि पर अपने पुरुषार्थ के थपेड़े देता तैरता रह सकता है। वह सागर की छाती पर अपनी नन्हीं सी तरी लेकर चाहे जिस दिशा में जा सकता है। साधारण व्यक्ति के लिए सागर की गहराई जितनी अगम और विस्मयकारक है उतनी ही उसकी सतह सहज और आनन्ददायी है। पं. दीनदयाल जी उपाध्याय के व्यक्तित्व का बड़प्पन सागर की तरह व्यापक, गंभीर, आह्लाददायी और जन-सुलभ था। अपने चारों ओर चलने वाली छोटी-बड़ी हलचलों को ध्यानपूर्वक देखना, समझना, उन पर चिन्तन करना, विद्यमान घटनाचक्र का तारतम्य ठीक-ठीक बैठाकर निष्कर्ष निकालना उनके स्वभाव का गुण था।

उनकी इस गुरुता और सरलता दोनों बातों का समावेश उनके विभिन्न भाषणों को लेखबद्ध करते समय ध्यान में देने की बात थी। भाषण में जो बात

विस्तारपूर्वक रखने से श्रोताओं को आनन्द आता है लेखन में वही विस्तार उबाने वाली बात हो जाती है और उसी प्रकार भाषण में वक्ता के व्यक्तित्व और उसके हाव-भाव के कारण जो तत्त्व मात्र संकेतों द्वारा समझाए जा सकते हैं वही लेख में विस्तारपूर्वक देना जरूरी होता है। इसलिए इन भाषणों को लेखबद्ध संकलित करते समय संक्षिप्तीकरण और विशदीकरण दोनों का आश्रय लिया गया है।

अस्तु, अन्त में केवल इतना ही निवेदन है कि इस प्रयास में जो जितना पाठकों को रसपूर्ण और मार्गदर्शक मिले वह सब पं. दीनदयाल जी के हृदय और उनकी वाणी की मधुरता का प्रसाद है। साथ ही यदि कुछ अधूरा, अनगढ़, अपूर्ण दिखाई दे तो वह संकलनकर्ता की लघुता के कारण है। इसके लिए संकलनकर्ता क्षमाप्रार्थी है।

इस संकलन के सम्बन्ध में इतना विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि इसमें वे मूलगामी विचारतत्त्व हैं जो व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और मानवता के परिपूर्ण और समग्र चिन्तन की आधार शिला बनकर नवनिर्माण की प्रेरणा प्रदान करते हैं। सारांश में यही कहा जा सकता है कि इसमें भारत की एकात्म चिन्तनधारा के सूत्र संग्रथित हैं।

पं. दीनदयाल जी उपाध्याय की पुण्यस्मृति में उनके असंख्य सहयोगी परिचितजनों के हाथों यह भेंट सादर समर्पित है। श्री परमात्मा की कृपा से उनके ये प्रेरणासंदेश जन-जन तक पहुँचकर चिति रक्षा में शक्ति प्रदान करें।

- प्रकाशक

9

परम सुख का मार्ग

परम सुख का मार्ग

मनुष्य की सभी क्रियाओं का उद्देश्य एक ही है – आनन्द अथवा सुख की प्राप्ति। वैसे तो सम्पूर्ण सृष्टि ही आनन्दमय है। प्रत्येक प्राणी वही कार्य करता है जो उसके लिए सुखकारक है। प्राणी ही क्यों जड़ पदार्थों में भी जितना कुछ होता है वह सभी आनन्द प्राप्ति के लिए है। सम्पूर्ण चराचर सृष्टि में एक ही आनन्द का नाद गुंजित हो रहा है। साधारण जीवधारी अन्य प्राणी भी सुख के लिए क्रियाएँ करते हैं। कुत्ते को डंडा दिखाया तो वह भागता है और रोटी दिखाई तो वह समीप आता है। एक समय भागने और दूसरे समय समीप आने की यह क्रिया उसकी सुख–कामना ही है। तब मनुष्य तो विकसित प्राणी है। इसलिए इस सम्बन्ध में कोई विशेष तर्क देने की आवश्यकता नहीं है कि मनुष्य की समस्त क्रियाओं का उद्देश्य सुख प्राप्ति ही है।

विचारणीय प्रश्न है कि सुख क्या है? इस सम्बन्ध में मनोविज्ञान शास्त्र के विद्वानों ने एक प्रयोग किया। एक ऐसी परखनली में जिसके भीतर एक दूसरे से जुड़े हुए तीन रास्ते थे। एक छोटा सा कीड़ा परखनली के एक रास्ते के छोर पर रख दिया। शेष बचे दो रास्तों में से बायीं ओर के रास्ते पर बिजली का करेंट जोड़ दिया। यह कीड़ा आगे बढ़कर जब बायीं ओर जाता था तो उसे बिजली के प्रवाह का धक्का लगता था। वह वापिस आता था। बार–बार उस कीड़े ने बिजली का धक्का खाया और दाहिनी ओर के रास्ते पर मुड़ा। दस–बारह बार ऐसा होने पर उस कीड़े ने बायीं ओर के रास्ते पर जाना ही बन्द कर दिया। जब परखनली के एक रास्ते के छोर पर उसे छोड़ा जाता तो वह सावधानी से बायीं ओर का रास्ता छोड़कर दाहिनी ओर आगे बढ़ता। वैज्ञानिकों ने इस पर से निष्कर्ष निकाला कि अनकूल वेदना ही सुख है। सर्वसाधारण प्राणीमात्र की यही प्रकृति सुख की ओर बढ़ना और दुख से दूर हटना है। किन्तु इस सुख की अनुभूतियों में भी बड़ा अन्तर है। सुख की अनुभूतियाँ भिन्न–भिन्न प्रकार की होती हैं – मनुष्य को भोजन करने, पानी पीने, ठड, गर्मी, वर्षा से शरीर को बचाने, सुगन्धित पुष्प की गंध लेने,

रंग–बिरंगे दृश्यों का अवलोकन करने आदि कितने ही प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। वह इनमें आनन्द का अनुभव करता है। ये इन्द्रियजन्य सुख हैं। इन्द्रियों से इनका उपभोग किया जाता है। इन सुखों के सम्बन्ध में हमारे यहाँ कहा गया है कि ये मनुष्य तथा अन्य प्राणियों में समान ही होते हैं। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि से जो अनुकूल वेदना होती है उसे मनुष्य और पशु में समान पाया जाने वाला सुख कहा गया है। मनुष्य और पशु में अन्तर केवल यही है कि मनुष्य का कुछ–न–कुछ जीवन लक्ष्य होता है। पशु का लक्ष्य नहीं होता। लक्ष्य ही मनुष्य में मनुष्यत्व समझा जाता है। लक्ष्यहीन मनुष्य तो निरा पशु ही है। इस लक्ष्य के कारण ही मनुष्य की विशेषता है। इसलिए इन्द्रिय तथा उसके विषयों के संयोग से प्राप्त सुख को मनुष्य के लिए राजस सुख माना गया है। यह इन्द्रियजन्य सुख क्षणिक होता है। किन्तु यह सुख भी कई बार फीका लगता है। एक कम्युनिस्ट ने अपने एक मित्र से अत्यन्त ही आग्रहपूर्वक कहा कि दुनिया में सबसे बड़ा सवाल रोटी का है। मित्र से उससे पूछा कि क्या दुनियां का सबसे बड़ा सवाल यही मानते हो? उसने जब 'हाँ' कहा तो मित्र बोला कि ठीक है मैं इसे सुलझाऊँगा। कल से मेरे घर आना। आपको रोज भरपेट स्वादिष्ट भोजन कराऊँगा किन्तु एक शर्त है कि रोज शाम को इसी स्थान पर खड़ा कर चार जूते भी लगाऊँगा। कम्युनिस्ट सज्जन द्वारा इसका कारण पूछने पर मित्र ने कहा, इसमें आपका क्या बिगड़ता है? आपका सवाल रोटी का है। वह पूरा होना चाहिए। यह दूसरा सवाल मेरा है इसे मुझ पर छोड़ दो। इस विनोद में भी बड़ा महत्वपूर्ण रहस्य छिपा है। रहस्य यह है कि सुख इन्द्रियों तक ही सीमित नहीं है। इसका सम्बन्ध किसी अन्य वस्तु से भी है। एक सज्जन नासिक जाकर तर्पण कर रहे थे। उनके एक मित्र भी साथ थे जिनका तर्पण में विश्वास नहीं था इसलिए उन्होंने मजाक करते हुए कहा कि यह क्या कर रहे हो? उक्त सज्जन ने कहा कि पितरों को पानी दे रहा हूँ। मित्र ने पूछा, भला, यहाँ दिया हुआ पानी उन्हें किस प्रकार मिलेगा? तो उक्त सज्जन ने इसका बिना कुछ उत्तर दिये मित्र के पिता जी को जोर–जोर से गाली देना शुरू कर दिया। इस पर मित्र भी बहुत क्रोधित हो उठा। वह बोला यदि तुम्हें तर्क नहीं सूझता तो मुझे गाली मत दो, मेरे पिताजी को गाली देना मैं सहन नहीं कर सकता। तब उक्त सज्जन ने शांतभाव से कहा, "मित्र, तुम्हारे पिता तो घर पर हैं। यहाँ दी हुई गालियाँ उनके पास तक तो नहीं पहुँच सकतीं। तब व्यर्थ में क्यों उत्तेजित होकर चिन्ता करते हो।" इस प्रकार मित्र को प्रश्न का सही उत्तर मिल गया था कि यह सब मन को अच्छा लगने की बात है। भावना का प्रश्न है। उद्धव चरित्र में कहा गया है 'उद्धव मन माने की बात।' गोपियों को उद्धव समझाने लगे तो गोपियों ने इनकार कर दिया। वे बोलीं कि भाई यह अपने–अपने मन का प्रश्न है। हम निराकार निर्गुण की आराधना करके प्रसन्न

नहीं हो सकतीं। हमें तो हमारा खेलने–कूदने, लीला करने वाला कृष्ण ही चाहिए। इसलिए केवल इन्द्रियजन्य सुख से काम नहीं चलता, मन का भी सुख जरूरी होता है। अन्यथा सामने थाली में रखा हुआ स्वादिष्ट भोजन भी विष के समान लगने लगता है और व्यक्ति उसे ठोकर मारकर उठ जाता है।

इसके साथ मनुष्य के पास बुद्धि भी है। वह चिन्तन करता है। चिन्तन का भी सुख है। अन्य प्राणियों के पास इतनी विकसित बुद्धि नहीं जितनी मनुष्य के पास है। वह क्षणिक और शाश्वत सुख के भेद को समझना चाहता है। कौन सा सुख स्थायी एवं चिरन्तन होगा, जो अधिक समय तक मिलता रहेगा और कौन–सा सुख क्षणिक एवं परिणाम में महान् दुखदायी होगा? इसका विचार मनुष्य कर लेना चाहता है। वह विवेक का प्रयोग करने लगता है। व्यक्ति सोचता है कि हीरा छोड़ कर काँच का टुकड़ा क्यों ले? जिस मुख से अमृत चख लिया उसमें करील के कड़ुवे फल क्यों डाले? इसलिए वह बुद्धि का भी सुख चाहता है। जीवन–लक्ष्य जिसे उसने बुद्धि द्वारा स्वयं स्वीकृत किया है उसकी सुख–दुख की वेदनाओं का निकष बनता है। लक्ष्य की ओर बढ़ते समय मार्ग के कांटे भी उसे सुखकर लगते हैं। सत्य के लिए वह लाख कष्ट झेलने में आनन्द का अनुभव करता है। अपनी मान्यताओं को स्थापित करने के लिए वह चाहे जिस वस्तु का त्याग कर सकता है। केवल मन का सुख उसे संतुष्ट नहीं कर पाता। मन तो चंचल है। हजार प्रकार की बातों में रमते रहने का काम मन का है। इस मन को वश में कर एकाग्र करने से मनुष्य लक्ष्य की ओर बढ़ सकता है। इसलिए उसे बुद्धि के सुख की आवश्यकता का अनुभव होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी के सम्बन्ध में ऐसी ही एक शिक्षाप्रद कथा है। वे अपनी पत्नी को इतना अधिक चाहते थे कि उसके बिना रह नहीं सकते थे। एक बार पत्नी अपने पिता के घर गई। मोह अवस्था में व्याकुल होकर तुलसीदास जी भी भागे–भागे ससुराल पहुँच गये। कहा जाता है कि वर्षा के दिन थे, नदी उफन रही थी तो उसमें बहते हुए एक मुर्दे को ही पकड़कर वे नदी पार हो गये। इधर ससुराल पहुँचने पर दरवाजे बन्द थे तो खिड़की से लटकते हुए एक साँप को रस्सी मानकर पकड़ अन्दर पहुँच गये। पत्नी को जगाया। पत्नी ने उन्हें धिक्कारा। बस, तब उनके मन के ऊपर छाया हुआ मोह छंट गया। बुद्धि ने प्रकाश पाया। सचमुच पत्नी के इन शब्दों में बड़ा सुख भरा हुआ दिखाई दिया कि हाड़–मांस के इस शरीर से इतना प्यार करते हो वैसा ही यदि श्री रघुवीर के प्रति होता तो कल्याण हो जाता। वे इस सुख की ओर बढ़े और रामचरित मानस की रचना कर अपार आनन्द को प्राप्त हुए।

तथापि बुद्धि का सुख भी अन्तिम चिरानन्द सुख नहीं है। बुद्धि से भी ऊपर आत्मा का सुख है। माँ बच्चे को गोद में लेकर आत्मिक सुख का अनुभव करती है।

यह आत्मा की विशालता का सुख है। इसके सामने अन्य सभी सुख तुच्छ हैं। भयमुक्त और स्वार्थमुक्त होने पर सिवाय आनन्द के अन्य कुछ नहीं रह जाता। इसलिए व्यक्ति इसकी खोज में विशालता स्वीकार करता जाता है।

इस प्रकार शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा चारों प्रकार के सुख की प्राप्ति ही जीवन–लक्ष्य है।

तथापि इस सुख की प्राप्ति कोई भी मानव अकेले नहीं कर सकता। स्वयं के परिश्रम से वह पूर्ण सुखी नहीं हो सकता। इसके लिए समाज के साथ उसके सम्बन्धों का प्रश्न आ उपस्थित होता है। जैसे, हम जो भोजन करते हैं वह केवल हमारे परिश्रम का ही फल नहीं है। अनेक बन्धुओं का उसमें सहयोग है। रोटी पकाने वाले रसोइये से लेकर, दूकानदार, मण्डी के नौकर–चाकर और किसान तक कितने ही लोग हैं जो हमारे सुख के लिए कारण बने हैं। इसी प्रकार हमारे प्रत्येक सुख में अनेक लोगों का हाथ है। इतना ही क्यों यदि समस्त सुखोपभोग के साधन हों और व्यक्ति अकेला हो तो भी वह दुखी हो उठता है। कभी–कभी बहुत साधनसम्पन्न लोगों के मुँह से निकली हुई यह आह सुनी होगी कि "भाई, सब कुछ है किन्तु इसका क्या उपयोग? हृदय भारी रहता है कि कोई अपना हो जो इसका उपभोग करे।" इसलिए सुख के लिए परोपकार का बड़ा यश गाया गया है। आपस में एक दूसरे के साथ समरस होना, काम आना, आत्मीयजनों को सुख पहुँचाने का यत्न करना ही परोपकार है। यही परस्परानुकूलता है। जब एक दूसरे सभी आपस में सब की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सचेत होते हैं तो आनन्द नाच उठता है। इसलिए सुख का आधार परस्परानुकूलता है, संघर्ष नहीं। अपने–अपने सुख की कामना कर संघर्ष करने से ईर्ष्या–पूर्ण प्रतिद्वन्द्विता तैयार होती है। उसमें सुख का आभास भले ही निर्माण हो, तैयार होता है दुःख। इसीलिए कहा गया है कि सुख आत्मनिष्ठ है, वस्तुनिष्ठ नहीं। किसी वस्तु में सुख होता तो वस्तु पास में रहने तक सदैव सुख ही देती रहती। किन्तु हम अनेक बार पाते हैं कि जो वस्तु सुखकर लगती थी वही कुछ कारणों से अब दुःख देने लगी। इसलिए सुख आत्मनिष्ठ है जिसका आधार परस्परानुकूलता है। सृष्टि का भी सब व्यवहार इसी प्रकार आपस की पूरकता में से ही प्रकट होता है। समुद्र की भाप ऊपर उठकर बादल बनती है, बादल घुमड़–घुमड़ कर बरस जाते हैं। नदियाँ उफनती हैं और फिर समुद्र में जा मिलती है। यही आनन्द है। व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि और परमेष्टी ये चार तत्व हमारे सामने उपस्थित होते हैं जो परस्पर सहकार्य से सुखदायी होते हैं। व्यक्ति समाज पर अवलम्बित है, समाज सृष्टि पर निर्भर है और सृष्टि का संचालन परमेष्टी द्वारा हो रहा है। व्यक्ति उसे परमेष्टि की इच्छा की पूर्ति का साधन बनने में धन्यता अनुभव करता है। जब तक इनमें परस्पर तालमेल बना है सब कुछ ठीक चलता है।

यही यज्ञचक्र कहा गया है। भगवद्गीता में कहा गया है कि प्राणी अन्न से, अन्न पर्जन्य से, पर्जन्य यज्ञ से और यज्ञ ब्रह्मा से निर्माण हुए हैं। इस तरह यह चक्र पूर्ण होता बताया गया है। यह अखंड चक्र ही सब सुख की धारणा करता है। इसे ही हमने दूसरे शब्दों में धर्म नाम से जाना है अर्थात् परस्पर कर्तव्य करने से धारणा रूप जो धर्म प्रकट होता है वही सुख है।

व्यक्ति जीवन में इस सुख की प्राप्ति के लिए चार बातों की आवश्यकता है– शिक्षा, स्वतंत्रता, शांति और पौरुष।

जिस यज्ञचक्र का उल्लेख ऊपर किया गया है उसे व्यवस्था के साथ और निष्ठापूर्वक संचालित बनाये रखने के लिए शिक्षा की जरूरत है। सब प्रकार की शिक्षा व्यक्ति को देने की व्यवस्था समाज में होनी चाहिए। किन्तु यह तभी संभव है कि जब व्यक्ति तथा समाज का जीवन स्वतंत्र हो। मानसिक स्वतंत्रता ही नहीं आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता भी जरूरी है। जाति–चिति के अभिमान प्रबल रहने से ही यह स्वतंत्रता रह सकती है। जहाँ स्वाभिमान नहीं वहाँ स्वतंत्रता भी नहीं रह सकती। इनके लिए शान्ति और पौरुष की भी आवश्यकता है। इन (चारों) साधन–चतुष्टय का निर्माण तथा संरक्षण करने के कार्य के लिए सक्षम सत्ताओं की रचना होती है। स्वतंत्रता रक्षण के लिए राज्य, शिक्षण के लिए गुरुकुल, अन्य सब प्रकार की शान्ति और पौरुष निर्माण के लिए समाज की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था है। प्रत्येक व्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए चार आश्रम हैं। इस प्रकार चतुर्विध वर्णाश्रम के आधार पर चतुर्विध साधनों के सहारे, चतुर्विध सिद्धान्त को लेकर परम सुख की प्राप्ति का व्यावहारिक ढाँचा खड़ा किया गया। ये सब साधन चिति से ही साध्य होते हैं। इसलिए राष्ट्र को चैतन्य प्रदान करना ही सब कार्यों की मूल प्रेरणा है। राष्ट्र का चैतन्य निर्माण होने से ये सब कार्य सम्पन्न होते हैं।

☆

२

'मैं' और 'हम'

'मैं' और 'हम'

प्रत्येक देशभक्त व्यक्ति की ऐसी इच्छा होना स्वाभाविक ही है कि अपना देश वैभवशाली बने। राष्ट्र सुखी, सम्पन्न हो। राष्ट्रीय उत्पादन बढ़े। बेकारी, भुखमरी, बेरोजगारी, अशांति का अन्त हो। न्याय सुलभ हो। आपसी झगड़े समाप्त हों। साम्प्रदायिक, क्षेत्रीय, भाषायी संकुचितताओं से ऊपर उठकर लोगों के सोचने, विचारने का तरीका हो। दलीय अभिनिवेशों से नेतागण मुक्त हों। भारत अपने राष्ट्रीय स्वरूप में आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक सभी प्रकार के क्षेत्रों में लोककल्याणकारी सिद्ध हो। जिसमें ऐसी इच्छा निर्माण नहीं होती हो उसे भारतीय तो क्या मानव कहना भी कठिन है। स्व. मैथिलीशरण जी गुप्त के शब्दों में कहना हो तो **"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है, वह नर नहीं, नरपशु निरा है और मृतक समान है।"** अपने देश को गौरवशाली देखने की इच्छा प्रत्येक जीवन्त भारतीय के हृदय में उठना स्वाभाविक है।

अस्तु, राष्ट्र–वैभव प्राप्त करने का अर्थ क्या है? कुछ लोग इस सन्दर्भ में अधूरे चिन्तन की ओर बढ़ते हैं। जो राष्ट्रीय प्रगति को व्यक्तिगत लाभालाभ की दृष्टि से देखने वाले लोग हैं उनके सोचने का दायरा केवल यहीं तक सीमित है कि राष्ट्र के वैभवशाली होने का अर्थ व्यक्ति का अपना जीवन सुखी–सम्पन्न होना है। ऐसे लोग पढ़ाई–लिखाई, व्यापार, परिश्रम और रात–दिन की सारी दौड़–धूप इसी उद्देश्य से करते हैं कि 'मैं' व्यक्तिगत रीति से बड़ा से बड़ा हो जाऊँ। उनकी महत्वाकांक्षाएँ, बोलने में भले ही वे राष्ट्रीय दिखाई देती हों किन्तु वास्तविकता में वे व्यक्तिगत हैं। व्यक्तिगत आकांक्षा को लेकर किये गये कार्यों में भी कुछ न कुछ अध्यवसाय तो होता ही है इसलिए कई बार ऐसा तर्क भी दिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अगर प्रगति कर ले तो राष्ट्र की प्रगति हो जावेगी। किन्तु यह तर्क महज एक धोखा है। राष्ट्र की सर्वतोमुखी प्रगति अकेले–अकेले व्यक्ति द्वारा नहीं हो सकती। स्वयं व्यक्ति भी अपने आप में कुछ नहीं कर सकता। यदि हम थोड़ी गहराई से विचार करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि 'मैं' का व्यावहारिक अर्थ है 'हम'।

मेरा नाम है दीनदयाल। इस नाम के साथ 'मैं' जुड़ा है। इसी से लोग मुझे पहिचानते हैं। मेरा प्रत्येक कार्य इसी नाम से समझा जाता है। इसके साथ मेरा मोह होना स्वाभाविक है। यदि गहरी नींद में मुझे कोई इस नाम से पुकारता है तो मैं जाग उठता हूँ। भारी भीड़ में हम जा रहे हों। बहुत कोलाहल को चीरकर कोई मेरा नाम लेकर बुलाये तो मैं सतर्क हो जाता हूँ। उस कोलाहल और भीड़ में भी मेरा 'मैं' जाग्रत रहता है। इतना गहरा सम्बन्ध मुझसे मेरे इस नाम का है। किन्तु यह नाम भी मुझे क्यों मिला ? दीनदयाल के बदले मेरा नाम 'मि. जॉन' क्यों नहीं रखा गया ? या विश्व में करोड़ों अन्य नाम हैं, फिर यही नाम क्यों रखा गया ? कोई कह सकता है कि माँ ने यह नाम रख दिया। किन्तु माँ ने यही नाम क्यों रखा ? रूसी, चीनी, ईसाई, तुर्की, अरबी आदि नामों में से कोई क्यों नहीं रखा ? साफ है कि जिस समाज का मैं अंग हूँ उसके अनुरूप नामाभिधान हुआ।

अर्थ यह है कि जन्म के लिए मेरा सम्बन्ध पूज्य माता–पिता से है किन्तु जिस दिन मेरा नामकरण–संस्कार हुआ मैं समाज का अंग बन गया। मेरी बोलने की शक्ति विकसित हुई तो भाषा भी मुझे समाज से मिली। मातृभाषा प्राप्त हुई। बड़े हुए तो सभ्य बने। इसका सम्बन्ध भी समाज से है। यानी समाज ने शिक्षा देकर बड़ा किया। जितने सुख–दुख के अवसर आये सबमें समाज उपस्थित हुआ। यहां तक कि सुख–दुख की अनुभूतियां भी समाज ने दीं। घर में कोई सुखदायी कार्य हो–विवाह, पुत्रजन्म या गृह–निर्माण, तो इच्छा होती है कि चार लोग एकत्रित हों। लोग न आयें तो बचत ही होगी ऐसा सोचकर कोई सन्तोष नहीं कर लेता। बड़ी तीव्रता से चाहता है कि सब लोग सम्मिलित हों। समाज ने अच्छा कहा तो मन प्रसन्न होता है। बुरा कहा तो दुखी। इस समाज के साथ इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यहाँ तक कि कोई समाज को बुरा कहे तो असहनीय हो जाता है "सबते कठिन जाति अपमाना" वाली गोस्वामी तुलसीदास जी की उक्ति चरितार्थ हो जाती है। एक बार मैं रेलगाड़ी में प्रवास कर रहा था। सवारियों में आपसी तू–तू, मैं–मैं हो गई। बहस ने गाली–गलौज का रूप ले लिया। उनमें एक सज्जन पंजाबी थे। उन्हें संकेत कर सभी पंजाबियों पर एक व्यक्ति ने ताना कस दिया। बस फिर क्या था। वे बोले–"देखो भाई, अब तक तुम मुझे ही उल्टा–सीधा कह रहे थे किन्तु अब तुमने सब पंजाबियों को बुरा बताया है। यह मुझे सहन नहीं हो सकता।" इतना कहकर वे प्रतिकार करने की सिद्धता में लाल हो उठे। अब सोचना चाहिए कि सब पंजाबी लोग तो वहां उपस्थित थे नहीं फिर भी इस व्यक्ति में वे जरूर थे। इसी प्रकार कोई भगवान रामचन्द्र, कृष्ण, बुद्ध, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह, नानक, कबीर, रामदास, मीरा, तुलसी, गांधी, पटेल आदि में से किसी

को बुरा कहे तो हमारे अन्दर बैठा यह 'मैं' जाग उठता है। तब केवल मेरे शरीर तक ही सीमित विचार नहीं होता। 'मैं' समाज बनकर उपस्थित होता है। 'मैं' का सम्बन्ध यदि शरीर तक ही होता तो कोई इन महापुरुषों को कितना ही कहता तो कुछ भी नहीं बिगड़ता। किन्तु इस 'मैं' में ये महापुरुष कहीं अवश्य विराजमान हैं। विदेशों में खेलों कि प्रतियोगिताएँ होती हैं। तब भारत की टीम विजयी होने पर हम प्रसन्नता से नाच उठते हैं, मिठाई बांटते हैं, आनन्द होता है। भारतीय टीम हारने पर दुःख होता है, भारत की विजय पर 'मैं' प्रसन्न और हार में 'मैं' दुखी होता है। इस 'मैं' में सारा देश भी आता है। इस प्रकार हम अनेक प्रसंगों पर यह पाते है कि 'मैं' वास्तव मे 'हम' ही है।

'हम' ही महत्वपूर्ण है सब कुछ सामूहिक जीवन पर ही निर्भर है। वैभव भी सामूहिक जीवन की एक विशेष स्थिति का नाम है। एक सज्जन विदेशों की यात्रा कर लौटे हैं। उन्होंने लेख लिखकर बहुत दुःख प्रकट किया। मैंने पूछा इतने दुखी क्यों हैं ? तो बोले, "क्या बताऊं, विश्व के सभी देशों में हिन्दुस्थान के संबंध में एक ही धारणा है कि यह भिखारियों का देश हे।" मैंने उनसे पूछा कि "तुमने तो भीख नहीं मांगी ?" वे बोले, "नहीं, किन्तु यह कैसे सहा जा सकता है कि भारत भीख मांग रहा है।" याने राष्ट्रीय अपमान में हम सबका अपमान है। उसी प्रकार जब भारत–पाक युद्ध के समय भारतीय सैनिक शत्रु को पराजित कर मोर्चे पर आगे बढ़ने लगे तो जीत की खुशी में नारे लगाये गये। राष्ट्रीय सफलता पर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करने लगे। याने राष्ट्र के वैभव में हमारा वैभव निगड़ित है।

वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति का जीवन नाशवान है फिर भी भगतसिंह को सब याद करते हैं। हकीकत राय, गुरु तेग बहादुर को याद करते हैं। एक लम्बी परम्परा है जिनका स्मरण होता है। इन सब बलिदानी महापुरुषों ने अपने शरीर की परवाह नहीं की। यह 'हम' ही था जिसने 'मैं' को इतना ऊंचा उठने की प्रेरणा दी। हंसते–हंसते बलिदान हो गये। कहा कि शरीर नश्वर है। समाज अमर है। समाज को जीवित रखने के लिये व्यक्ति ने बलिदान दिये। समाज ने उन्हें अपनी स्मृतियों में संजोकर अमर बना दिया। दोनों अमर हुए। इन बलिदानों को क्या आत्महत्या कहा जावेगा ? नही। बलिदान और आत्महत्या में अन्तर है। आत्महत्या 'मैं' तक सीमित भावना है, इसलिए गलत है। किन्तु यही कार्य जब हम के लिए होता है तो बलिदान कहा जाता है। शरीर जब देश के लिए, समाज के लिए अर्पित हो तो गौरव की बात है। उसमें चिन्ता किस प्रकार की ? वह वरेण्य है। इससे समाज को शक्ति मिलती है। बलिदान से श्रेष्ठ कार्य के पौधे सींचे जाते है। 'मैं' का वास्तविक अर्थ 'हम' गुंजित होता है। जहां 'हम' याने सामूहिक उत्तरदायित्व उभरा कि शक्ति का प्रस्फुटन होता है। इसलिए बलिदान राष्ट्र को नव चैतन्य प्रदान करने वाले सिद्ध

होते हैं।

'हम' ही वह मूलभूत तथ्य है जो 'मैं' को सार्थक बनाता है। आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक सभी प्रकार के विकास इसी तथ्य में निहित हैं। कोई व्यक्ति यदि हिमालय की किसी कंदरा में जाकर योगाभ्यास करे और 'मैं' से चलकर 'हम' तक न पहुँचे; केवल व्यक्तिगत मोक्ष की आकांक्षा से ही सब कुछ करे, योगाभ्यास करें तो भी उसे मुक्ति नहीं मिल सकती। मुक्ति इतनी छोटी चीज नही है जो समाज को छोड़ कर किसी एक को एकान्त में मिल जाय। किसी प्रकार की सिद्धि भले ही प्राप्त हो जाय तथापि वह सिद्धि तब तक बेकार ही है जब तक वह अपने चारों ओर फैले समाजबन्धुओं को उन्नत करने में समायोजित न हो। कुछ लोगों की ऐसी गलत धारणा है कि समाज अधःपतित रहते हुए भी केवल वही अकेले मुक्ति के अधिकारी बन सकते हैं। यह गलत है। मुक्ति नाम की व्यक्तिगत कोई चीज नहीं है। मुक्ति भी समष्टिगत है। जब समाज मुक्त होगा, तो ऊँचा उठेगा। उन्नत होगा तभी व्यक्ति को शांति मिल सकती है। इसलिए संन्यास आश्रम में प्रवेश करने वाले भी लोकसंग्रह का दायित्व ग्रहण करते हैं। लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य में वर्णित कर्मयोग का भी यही निष्कर्ष है। शास्त्रों में वर्णित एक श्लोक उद्धृत कर उन्होंने कहा कि अपना धर्म-कर्म छोड़कर जो कृष्ण-कृष्ण चिल्लाते हैं वे पापी है। कृष्ण स्वयं धर्म की स्थापना के लिए यत्नशील रहे। 'धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे' की घोषणा हुई। भगवान इसी के लिए अवतरित होते हैं। ऐसा वर्णन हमें सुनने को नहीं मिलता कि भगवान का अवतार हुआ तो वे कहीं किसी गुफा में बैठकर एकान्त मुक्ति की साधना में लग गये। भगवान राम का चरित्र हमारे सामने है। उखड़ी हुई मर्यादाओं और च्युत लक्ष्यों को पुनः स्थापित कर धर्म की विजय उनके आश्रय से प्राप्त हुई। इसलिए समाज को उन्नत बनाने का काम भगवान का काम है। अपने निज के लिए किया गया काम शैतान का काम है। राष्ट्रभक्ति, समाजभक्ति ही भगवान-भक्ति है।

"मैं" और "हम" में यही अन्तर है। महाभारत का उदाहरण लें। महाभारत में कहा गया है कि 'यतो धर्मस्ततोजयः' याने जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। तब लोग एक प्रश्न करते हैं कि महाभारत के युद्ध में कौरवों के जितने प्रमुख सेनापति थे वे चालाकी से मारे गये। भीष्म को मारने के लिए शिखण्डी को खड़ा किया गया। द्रोणाचार्य को युद्ध समाप्त करने के लिए युधिष्ठिर ने झूठ बोला। कर्ण तब मारा गया जब वह अपने रथ का पहिया उठाने का अर्जुन से अवसर मांग रहा था। जयद्रथ की मृत्यु का कारण सूर्य का बादलों में छिपना और प्रकट होना बताया जाता है। दुर्योधन की मृत्यु तो कमर के नीचे गदा मारने से ही भीम के हाथों हुई। इसके आधार पर पूछा जा सकता है कि पाण्डवों की जीत के लिए ये सब जो कार्य हुए क्या उन्हें धर्मानुकूल कहा जावेगा ? पाण्डवों ने छल किया। फिर भी 'जहाँ धर्म वहाँ

जय' की घोषणा वेदव्यास करते हैं तो क्या यह परस्पर विरोधी बात नहीं है ? क्या धर्म के नाम पर अधर्म नहीं हुआ ? इसका उत्तर खोजने पर हमें विदित होगा कि कौरव और पाण्डव के पक्ष के बीच एक बड़ा मूलगामी अन्तर था। कौरव-पक्ष का प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिवादी था। इसलिए अनर्थ का साथ दे रहा था। भीष्म पितामह महान थे किन्तु उनका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण इसी बात से प्रकट हो जाता है कि उन्होंने सोचा- "मैंने प्रतिज्ञा की है, शिखण्डी के आने के बाद मैं बाण नहीं चलाऊँगा। भीष्म पितामह ने यह नहीं सोचा कि वे सेनापति हैं, उन पर सेना का भार है। उन्हें केवल अपनी निजी प्रतिज्ञा की चिन्ता थी। दूसरी ओर अर्जुन ने जब इसी प्रकार का अपना व्यक्तिवादी दृष्टिकोण बताकर शस्त्र रखने की बात कही तो भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें धर्म का रहस्य बताया कि तू यदि अपने तक सोचता है तो व्यर्थ सोचता है। अर्जुन ने 'मैं' को छोड़ा और 'हम' को स्वीकार किया। भीष्म पितामह ने न अपने पक्ष का, न समाज का – किसी का भी विचार नहीं किया। केवल 'मैं' का विचार मात्र किया। इधर भगवान कृष्ण ने भी महाभारत में शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की थी। फिर भी जब अवसर ऐसा ही आ गया कि उन्हें शस्त्र ग्रहण करने पड़े तो उन्होंने आगा-पीछा नहीं किया। समष्टि के हित के लिए उन्होंने यह नहीं सोचा कि उन्हें व्यक्तिगत रूप से क्या कहा जायगा ? धर्मराज युधिष्ठिर ने भी उनका कहना माना और समष्टि की मांग के समक्ष उन्होंने अपना रथ थोड़ा नीचा कर लिया। इधर द्रोणाचार्य को पुत्र का मोह था। वे पुत्र-वध का समाचार पाकर शस्त्र छोड़ बैठे। कर्ण ने तो सूर्य द्वारा प्रदत्त अपने कवच-कुण्डल ही इन्द्र को दे दिए। यद्यपि सूर्य ने चेतावनी दी थी कि कवच-कुण्डल न देना। किन्तु कर्ण को अपनी दानवीरता का ध्यान था। उसने सबका विचार नहीं किया। इधर कुन्ती ने आवश्यकता पड़ने पर जाकर कर्ण को बता दिया कि वह उसका ही पुत्र है। कुन्ती जब कुंवारी थी तब कर्ण का जन्म हुआ था। यह बात बताने में कुन्ती को निजी अपमान सहना पड़ा। किन्तु समष्टि के लिए उसने न केवल यह सत्य घोषित किया वरन् अर्जुन को छोड़कर अन्य किसी पाण्डव पर कर्ण बाण नहीं चलायेगा यह वचन भी कुन्ती ने प्राप्त कर लिया। इधर भीष्म की मृत्यु का रहस्य किसी को पता नहीं था। किन्तु द्रोपदी ने जाकर जब पूछा तो भीष्म ने बता दिया कि शिखण्डी के सामने आने पर वे युद्ध करना बन्द कर देंगे। भीष्म ने यह नहीं सोचा कि सेनापति का ऐसा करना सबके हित में नहीं है। किन्तु उन्हें सबका नहीं अपना ही ख्याल रहा। इसलिए हम पाते हैं कि कौरव-पक्ष में पाण्डवों के पक्ष की तुलना में एक से एक बढ़-चढ़ कर योद्धा और शूर थे फिर भी उनकी सबकी कृतियाँ अलग-अलग थीं, सबका मिलकर कोई एक कार्य संचालन नहीं था। सबको अपनी-अपनी ही चिन्ता थी। भीष्म को प्रतिज्ञा की चिन्ता थी, द्रोणाचार्य को पुत्र का मोह था, दुर्योधन

को मात्र अपने राज्य की चिन्ता थी। उधर पाण्डवों के पक्ष में सबका मिलकर कार्य था। उनमें से प्रत्येक ने अपने–अपने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को छोड़ा। भगवान कृष्ण के नेतृत्व में एकजुट होकर जो भी कार्य आया – निभाया। कर्ण से भीख मांगना था– मांगी, झूठ बोलने का क्षण आया– बोला, निजी गुप्त रहस्य का उद्घाटन कर स्वयं लांछित होने का प्रश्न आया तो भी चिन्ता नहीं की, जैसा कृष्ण ने कहा सब करते रहे। अपना–अपना आग्रह छोड़कर समष्टि के लिए ही कार्यरत हुए। उनका समष्टि का विचार कर कार्य करने का ढंग ही धर्म हुआ और व्यक्तिवादी आधार पर सोचने के कारण कौरवों का पक्ष अधर्म का पक्ष गिना गया। जीत धर्म की हुई अधर्म की नहीं। याने समष्टिवाद ही धर्म है। व्यक्तिवाद अधर्म है। राष्ट्र के लिए काम करना धर्म है। राष्ट्र–कार्य को साधने के लिए जो कुछ आ पड़े करना ही उचित है। सच, झूठ, सबकी कसौटी समष्टि का हित है। इसका अर्थ यह नहीं कि धर्मराज ने झूठ बोला इसलिए हम भी अपने दैनिक जीवन में झूठ बोलने लगें। झूठ बोलना तो खराब ही गिना जावेगा। प्रश्न है कि राष्ट्र का, समष्टि का विचार कर कार्य किया गया है या नहीं? जैसे किसी की हत्या करना पाप है किन्तु युद्ध में लड़ने वाले सैनिक को कोई हत्यारा नहीं कहता। शत्रु पर वार करना यह सैनिक का धर्म है। युद्ध में सैनिक रोज हिंसा करता है। उसे परमवीर चक्र देकर हम सम्मानित करते हैं। क्योंकि इस कार्य में वह व्यक्तिवादी ढंग से नहीं सोच रहा। राष्ट्र का विचार कर उसने आचरण किया है। इसलिए अभिनन्दनीय है। यही आचरण यदि व्यक्ति जीवन में कोई करे तो उसे फांसी की सजा होगी। किन्तु युद्ध में शत्रु का विनाश करना राष्ट्र–रक्षा का पुनीत कर्तव्य बन जाता है। शत्रु–पक्ष में जाकर जासूसी करते समय कितने ही कार्य करने पड़ते हैं, जिन्हें व्यक्ति–जीवन में अनुचित ही कहा जावेगा। झूठ बोलना, चोरी करना और कितने ही प्रकार के कर्म करके शत्रु पक्ष के भेद लाने होते हैं। किन्तु चूँकि ये कार्य समष्टि के हित का ध्यान रखकर सम्पन्न किये जाते हैं इसलिए वे सम्मानित होते हैं। राष्ट्र के लिए की गई चोरी, चोरी नहीं रहती; याने कर्म का महत्व इस बात पर है कि किस विचार से किया गया? यदि समष्टि का विचार कर किया गया तो पुण्यकर्म ही है। समष्टि का विचार कर कार्य करने वाले लोगों की शक्ति ही सामूहिक संगठित शक्ति है। व्यक्तिवादी संगठित शक्ति नहीं बना पाते। इसीलिए कहा गया है कि राष्ट्रीयता का भाव ही शक्ति का मार्ग है।

यह सामूहिक भाव याने राष्ट्रीयता ही वह कसौटी है जिस पर हमारी प्रत्येक कृति, प्रत्येक व्यवस्था ठीक या गलत गिनी जावेगी। उदाहरणार्थ, प्रजातंत्र में प्राप्त नागरिकों के अधिकारों को ही लें। वोट का अधिकार है, वोट देते समय यदि राष्ट्र का विचार रहा तो धर्म होगा और यदि व्यक्तिगत विचार से प्रेरित होकर सम्पन्न हुआ तो अधर्म हो जावेगा। राष्ट्रीयता यदि ठीक है तो सब व्यवस्था ठीक गिनी

जावेगी और यदि राष्ट्रीयता के विपरीत कार्य हुआ तो श्रेष्ठ से श्रेष्ठ व्यवस्था भी गलत सिद्ध होगी। जो लोग राष्ट्रीयता का मखौल उड़ाकर, राष्ट्र के विचारों को तिलांजलि देकर विभिन्न प्रकार के 'वादों' के नारों में उलझते हैं वास्तव में वे भूल करते हैं। उनके हाथ से कोई अच्छा कार्य नहीं हो सकता। समाजवाद, पूँजीवाद, प्रजातंत्र अथवा अन्य कोई भी वाद अधिक से अधिक एक रास्ता है, प्रगति का आधार नहीं। व्यक्तिगत, दलगत या वादगत कोई विचार लेकर चलने से प्रगति नहीं हो सकती। राजनीति आखिर राष्ट्र के लिए ही है। यदि राष्ट्र का विचार छोड़ दिया, याने राष्ट्र की अस्मिता, उसके इतिहास, संस्कृति, सभ्यता को छोड़ दिया तो राजनीति का क्या उपयोग? राष्ट्र का स्मरण कर कार्य होगा तो सबका मूल्य बढ़ेगा। राष्ट्र को छोड़ा तो सब शून्य जैसा ही है। राष्ट्र का विचार लेकर आगे बढ़ें तो एक और एक मिलकर दो नहीं ग्यारह होते हैं। इस आधार पर संगठन करते जावें तो एक, एक, एक, एक, होकर एक हजार एक सौ ग्यारह हो जाते हैं। राष्ट्रीयता छोड़ी तो दशमलव लग गया। अब चाहे जितने एक जोड़ते जायं मूल्य घटता ही जावेगा। राष्ट्र के आधार पर ही व्यक्ति की कीमत बढ़ती है। राष्ट्र को छोड़ा तो कीमत घटती है।

सामूहिक जीवन के इन संस्कारों को मजबूत करना ही प्रगति का मार्ग है। प्रत्येक व्यक्ति 'मैं' और 'मेरा' विचार त्यागकर 'हम' और 'हमारा' विचार करे। अन्यथा कई बार देखा जाता है कि व्यक्ति कहता है कि राष्ट्र के लिए जान हाजिर है और जीवन में सब कार्य व्यक्ति का विचार कर ही करता रहता है। इसमें न व्यक्ति का भला है और न ही समष्टि का। वास्तव में समष्टि के लिए कार्य करना याने धर्माचरण करने की भी शिक्षा होती है। उसमें भी संस्कार डालने होते हैं। इन संस्कारों को प्रदान करना ही राष्ट्र का संगठन करना है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि 'मैं' नाम की कोई सत्ता ही नहीं है। तात्पर्य इतना ही है कि 'मैं' की सार्थकता 'हम' में होती है। व्यक्तिभाव जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व ढलता है आवश्यक ही होता है। व्यायाम से शरीर बलशाली होता है। संध्या–उपासना करने से अन्तःकरण को शांति मिलती है, दीर्घायु प्राप्त होती है। व्यक्तिभाव से व्यक्तिशः सेवा–सुश्रुषा करने से ही यह सब हो पाता है। व्यक्ति को नीरोग, दीर्घजीवी, हृष्ट–पुष्ट, आनन्दित, प्रसन्न, कार्यक्षम, यशस्वी होना जरूरी है। जहाँ व्यक्ति निर्बल होकर निकम्मा हो जाता है वहाँ समष्टि की आराधना का पूरा लोप होना स्वाभाविक ही है। इसलिए व्यक्ति के गुण विकसित होना चाहिए। व्यक्ति निकम्मे हों तो समाज की सेवा किस प्रकार करेंगे। इसीलिए हमारे यहाँ यह भी कहा गया है कि–

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः।

जो व्यक्तिवाद का अवलम्बन करते हैं वे अधःपतन को प्राप्त होते हैं परन्तु जो समष्टिवाद में रमते हैं वे उससे भी अधिक नीचे गिरते हैं।

अस्तु भारतीय तत्वज्ञानियों ने 'मैं' और 'हम' को समन्वित करने का विचार रखा है। उनका कहना है कि–

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते।

समष्टिवाद और व्यक्तिवाद ये दोनों साथ–साथ रहें तो लाभदायक होते हैं। व्यक्तिवाद के अनुष्ठान से व्यक्ति के कष्ट दूर किये जाते हैं और समष्टिवाद से अमरत्व की प्राप्ति होती है।

यही 'संभूय समुत्थान' का अर्थ है। संघ बनाकर उठना ही प्रगति का रास्ता है। संघ बनाकर न रहना अर्थात् व्यक्तिशः रहना, व्यक्ति का पृथक्–पृथक् रहना असंघटित अवस्था है। इसी का नाम विनाश है; क्योंकि व्यक्ति विनाश को प्राप्त होता है और संघ अजरामर रह सकता है। मानवों का अमरत्व संघभाव से है और व्यक्ति बिखरा हुआ रहे तो व्यक्ति का नाश निश्चित है। इसलिए व्यक्तियों को गुणवान, शक्तिवान बनना चाहिए और व्यक्तिवाद छोड़कर संघशक्ति की आराधना करना चाहिए। मनुष्य अमरत्व चाहता है। वह अमरत्व संभूति से ही मिल सकता है। 'संभूत्या अमृतं अश्नुते' संघ से अमरत्व प्राप्त होता है। संघ–जीवन, सामुदायिक जीवन जीना ही अमरत्व को प्राप्त करना है। इस दृष्टि से 'मैं' के वास्तविक रूप 'हम' को ग्रहण करना चाहिए।

☆

३

राष्ट्र की जीवनदायिनी शक्ति

राष्ट्र की जीवनदायिनी शक्ति

विश्व का प्रत्येक प्राणी इस बात का सतत् प्रयत्न करता रहता है कि उसका अस्तित्व बना रहे, वह जीवित रहे। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए वह दूसरे अनेक प्राणियों को अस्तित्वहीन करने का प्रयत्न करता रहता है, तथा स्वयं को अस्तित्वहीन करने वाली शक्तियों से निरन्तर अपनी रक्षा करता रहता है। विनाश और रक्षा के इन प्रयत्नों की समष्टि का ही नाम जीवन है। इन प्रयत्नों की भिन्नता ही भिन्न–भिन्न प्रकार के जीवनों का कारण है तथा इनकी सफलता या असफलता ही विभिन्न प्राणियों के विकास या विकार का मापदण्ड है। मानव भी इन नियमों का अपवाद नहीं है। आदि मानव की सृष्टि और तब से अब तक का इतिहास इन प्रयत्नों का ही इतिहास है। किन्तु मनुष्य विश्व के अन्य प्राणियों से अधिक विकसित है। उसका अस्तित्व केवल प्राथमिक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही निर्भर नहीं रहता किन्तु उसके जीवन में भौतिकता के साथ–साथ आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक तत्वों का भी समावेश होता है। मनुष्य के जीवन का ध्येय श्वासोच्छ्वास तथा श्वासोच्छ्वास की क्रिया को बनाये रखना ही नहीं है, किन्तु इससे भिन्न है। वह तो श्वासोच्छ्वास मात्र जीवन का साधन मानता है, साध्य नहीं। उसका साध्य तो उपनिषदों के शब्दों में है :

'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यो श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'।

वह आत्मा की अनुभूति करना चाहता है, उसे समझना चाहता है अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं को उस अनुभूति के प्रति लगाता है।

यह आत्मा क्या है जिसके लिए मानव इतना तड़पता है? इस सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं और इन्हीं मतभेदों के कारण विश्व में अनेकों सम्प्रदायों की सृष्टि हुई है। अनेक मनीषियों ने इस आत्मा को विश्व का आदि कारण, उसका कर्ता–धर्ता एवं हर्ता, सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी परब्रह्म परमेश्वर को ही माना है। उनका कथन है कि वही एकमेव शक्ति है जो सम्पूर्ण विश्व को चला रही है तथा प्रत्येक प्राणी

उसकी ओर बढ़ने का प्रयत्न कर रहा है। वह उसी में मिल जाना चाहता है। और इसलिए मानव का प्रयत्न उस परब्रह्म का साक्षात्कार ही है। उस परब्रह्म में ही पूर्णता होने के कारण 'सत्यं, शिवं और सुन्दरं' की पूर्णाभिव्यक्ति होने के कारण ही मनुष्य इन गुणों की ओर आकर्षित होता है, तथा जीवन के हर क्षेत्र में इन गुणों की आंशिक अनुभूति करता हुआ पूर्ण साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील रहता है। कुछ विद्वान् इस अदृश्य शक्ति में विश्वास न करते हुए केवल दृश्य जगत् में ही विश्वास रखते हैं तथा उसमें भी मानव के विकास को (उसके सुख–साधन सम्पन्न जीवन को) ही परम लक्ष्य मानकर सुख की प्राप्ति के प्रयत्नों को ही मानव जीवन का एकमेव कर्तव्य समझते हैं। उनके विचारों में ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है किन्तु यदि गहराई से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि मानव की एकता की अनुभूति तथा उसको सुखमय बनाने की इच्छा की प्रेरक शक्ति निश्चित ही दृश्य सृष्टि से भिन्न कोई सूक्ष्म तत्व है जो इस दृश्य जगत् को परिव्याप्त किये हुए प्रत्येक प्राणी के अन्तःकरण में सम्पूर्णता की, एकात्मता की भावना उत्पन्न करता है। उस शक्ति को आप चाहे जो नाम दें किन्तु यह निश्चित है कि उसकी ओर प्रत्येक मानव अग्रसर है तथा मानवता के कल्याण की भावना किसी स्वार्थ का परिणाम नहीं किन्तु आत्मानुभूति की इच्छा का परिणाम है। अज्ञानवश मानव आत्मा के स्वरूप को संकुचित करने का प्रयत्न करता है किन्तु सत्य का ज्ञान सतत अज्ञानपटल को भेदने के लिए प्रयत्नशील होता है।

सम्पूर्ण सृष्टि की एकात्मता के साक्षात्कार का ध्येय सम्मुख रखते हुए भी मानव अपनी प्रकृति के अनुसार ही उसकी ओर अग्रसर होता है। उसी प्रकार संसार के भिन्न–भिन्न भागों में रहने वाला मानव भी सम्पूर्ण मानवता की आन्तरिक एकता की भावना रखते हुए तथा उसकी पूर्णानुभूति की इच्छा रखते हुए भी प्रकृति के साधनों एवं उनको अपने नियंत्रण में करके आगे बढ़ने के प्रयत्नों में अपनी एक विशिष्ट दिशा निश्चित कर लेता है, उसकी कुछ विशेषताएँ हो जाती हैं, उसकी अपनी निजी प्रतिभा का विकास हो जाता है। यद्यपि सम्पूर्ण पृथ्वी एक है किन्तु उसके ऊपर स्थित पहाड़–पर्वत, सागर और वन, उसके भिन्न–भिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की जलवायु और वनस्पति अपना प्रभाव उस प्रदेश के मानव पर डाले बिना नहीं रहते तथा उस विशिष्ट भूभाग के मनुष्य पूर्णानुभूति के प्रयत्नों में अपना विकास निश्चित दिशा में करते हैं। उनका अपना एक निजी स्वत्व हो जाता है जो कि उसी प्रकार की दूसरी इकाइयों से उसी प्रकार भिन्न होता है जैसे कि एक ही सेना के विभिन्न अंग। आधुनिक युद्ध में जल, थल और वायु सेना जिस प्रकार अपनी–अपनी पद्धति से एक ही युद्ध को जीतने का प्रयत्न करती है उसी प्रकार संसार के भिन्न–भिन्न राष्ट्र एक ही मानवता की अनुभूति के लिए प्रयत्नशील रहते

हैं। जल, थल और वायु सेना में कार्य करने में सैनिकों की अपनी विशेष प्रतिभा का विकास होता है तथा वे अपनी निजी पद्धति से शत्रु को पराजित करने का प्रयत्न करते रहते हैं। तीनों सेनाओं में सामंजस्य रहना तो अच्छा है किन्तु यदि किसी सेना के सैनिक अपनी पद्धति को ही सत्य मानकर दूसरी सेना के सैनिकों पर प्रभाव जमाने का प्रयत्न करें, अथवा उनकी प्रतिभा को नष्ट करना चाहें तो उनका यह प्रयत्न अन्तिम ध्येय की पूर्ति में बाधक होगा तथा आक्रमित सेना के सैनिकों का कर्तव्य होगा कि वे आक्रमणकारी सैनिकों से ही प्रथम युद्ध करके उनकी बुद्धि को ठिकाने पर ला दें। इसी प्रकार यदि किसी सेना के विशेष प्रभाव को देखकर अथवा किसी विशेष क्षेत्र में उनकी विजय को देखकर अथवा आक्रमणकारी सेना की सामर्थ्य का अनुभव करते हुए कोई सेना अपनी पद्धति, अपने प्रयत्न तथा अपनी प्रतिभा को तिलांजलि देकर उस दूसरी सेना की विशेषताओं को और उसमें भी विशेषकर उसके बाह्य स्वरूप को अपनाने का प्रयत्न करती है तो वह स्वतः नष्ट हो ही जायेगी अपितु मानव की अन्तिम विजय में भी अपना दायित्व नहीं निभा पायेगी।

विश्व के अनेक राष्ट्रों का इतिहास उपर्युक्त उदाहरण की भावना को ही परिलक्षित करता है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी विशिष्ट पद्धति को ही सत्य समझने लगता है तथा अपने को एकमेव प्रतिभावान मानकर दूसरे राष्ट्रों पर अपनी पद्धतियों को लादने का प्रयत्न करता है। यदि यह प्रयत्न शान्तिमय होता तो भी कुछ बात नहीं किन्तु वह जबरदस्ती अपने सत्य को दूसरों के गले उतारना चाहता है। मानव के सुख और वैभव को भी वह अपने राष्ट्र के सुख और वैभव तक ही सीमित करके दूसरे राष्ट्रों के सुख और शान्ति को नष्ट करता है; उसके प्राकृतिक विकास में बाधा डालता है। फलतः एक राष्ट्र दूसरे पर विजय प्राप्त कर लेता है और उसे गुलाम बना लेता है।

परतन्त्र राष्ट्र का जीवन–प्रवाह रुद्ध हो जाता है। उसके घटक किसी न किसी प्रकार श्वासोच्छ्वास तो करते रहते हैं किन्तु वे अपने जीवन में सुख और शान्ति का अनुभव नहीं कर पाते। भौतिक दृष्टि से सुखोपभोग करने वाले व्यक्ति भी परतंत्रता का ताप अनुभव करते रहते हैं क्योंकि उनका आत्मसम्मान नष्ट हो जाता है, उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचती है तथा उनकी प्रतिभा कुंठित होने लगती है, उनकी आत्मानुभूति का मार्ग बन्द हो जाता है। युग–युगों में उनकी प्रतिभा ने प्रस्फुटित होकर जिन विशेष वस्तुओं का निर्माण किया होता है, उसकी अवमानना होने लगती है तथा उसके विनाश का पथ प्रशस्त हो जाता है। उस राष्ट्र की भाषा, संस्कृति, साहित्य और परम्परा नष्ट होने लगती है, उसके महापुरुषों के प्रति अश्रद्धा निर्माण की जाती है तथा उसके नैतिक मापदण्डों को निम्नतर ठहराया जाता है। उसके जीवन की पद्धतियाँ विदेशी पद्धतियों से आक्रान्त हो जाती हैं तथा विदेशी

आदर्श उसके अपने आदर्शों का स्थान ले लेते हैं। फलतः उस राष्ट्र के व्यक्तियों की दशा विक्षिप्त व्यक्ति के समान हो जाती है, अपन प्रकृति, स्वभाव और प्रतिभा के अनुसार कार्य करने की सुविधा न रहने के कारण वे प्रगति के पथ पर अग्रसर होने से ही वंचित नहीं रह जाते अपितु पतन की ओर भी अग्रसर हो जाते हैं।

ऐसी दशा में उस राष्ट्र के घटकों का प्रथम कर्तव्य हो जाता है कि विजेता राष्ट्र के प्रभुत्व को नष्ट करके अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र किया जाये। उस राष्ट्र की सम्पूर्ण शक्ति विदेशी राष्ट्र के प्रति विद्रोह की भावना लेकर खड़ी हो जाती है और अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार अवसर प्राप्त होने पर स्वतन्त्रता को प्राप्त करती है। विश्व के इस नियम के अनुसार भारतवर्ष ने भी अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध बगावत का झण्डा खड़ा किया और अन्त में एक राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ही ली।

१५ अगस्त १९४७ को हमने एक मोर्चा जीत लिया। हमारे देश से अंग्रेजी राज्य विदा हो गया। उस राज्य के कारण हमारी प्रतिभा के विकास में जो बाधाएँ उपस्थित की जा रही थीं, उनका कारण हट गया, हम अपना विकास करने के लिए स्वतन्त्र हो गये। अपनी आत्मानुभूति का मार्ग खुल गया।

किन्तु आज हमको विचार करना होगा कि अंग्रेजों के चले जाने मात्र से हमारे ध्येय की सिद्धि नहीं हो गई। वह तो हमारे मार्ग में एक बाधा थी और आज वह दूर हो गई है। किन्तु अभी भी मानव की प्रगति में हमको सहायता करनी है। मानव द्वारा छेड़े गये युद्ध में जिन-जिन शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हमने अब तक किया है, जिनके चलाने में हम निपुण हैं, तथा जिन पर पिछली सहस्राब्दी में जंग लग गई थी उन्हें पुनः तीक्ष्ण करना है तथा अपने युद्ध-कौशल का परिचय देकर मानव को विजयी बनाना है। आज यदि हमारे मन में उन पद्धतियों के विषय में मोह पैदा हो जाये, जिनके पुरस्कर्ताओं से हम अब तक लड़ते रहे तो यही कहना होगा कि हम न तो स्वतन्त्रता का सच्चा स्वरूप समझ पाये हैं और न अपने जीवन के ध्येय को ही पहिचान पाये हैं। हमारी आत्मा ने अंग्रेजी राज्य के प्रति विद्रोह केवल इसलिए नहीं किया कि दिल्ली में बैठकर राज्य करने वाला एक अंग्रेज था, अपितु इसलिए भी कि हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन में, हमारे जीवन की गति में विदेशी पद्धतियाँ और रीति-रिवाज, विदेशी दृष्टिकोण और आदर्श अड़ंगा लगा रहे थे, हमारे सम्पूर्ण वातावरण को दूषित कर रहे थे, हमारे लिए सांस लेना भी दूभर हो गया था। आज यदि दिल्ली का शासनकर्ता अंग्रेज के स्थान पर हममें से ही एक, हमारे ही रक्त और मांस का एक अंश हो गया है तो हमको इसका हर्ष है, सन्तोष है, किन्तु हम चाहते हैं कि उसकी भावनाएँ और कामनाएँ भी हमारी भावनाएँ और कामनाएँ हों। जिस देश की मिट्टी से उसका शरीर बना है, उसके प्रत्येक रजकण का इतिहास

उसके शरीर के कण-कण से प्रतिध्वनित होना चाहिए, तीस कोटि हृदयों की समष्टिगत भावनाओं से उसका हृदय उद्वेलित होना चाहिए तथा उनके जीवन के विकास के अनुकूल उनकी प्रकृति और स्वभाव के अनुसार तथा उनकी भावनाओं और कामनाओं के अनुरूप पद्धतियों की सृष्टि उसके द्वारा होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो कहना होगा कि अभी भी स्वतन्त्रता की लड़ाई बाकी है। अब भी हम अपनी आत्मानुभूति में आने वाली बाधाओं को दूर नहीं कर पाये हैं।

अंग्रेजों के चले जाने के बाद आवश्यक है कि हमारा देश आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में भी स्वतन्त्रता का अनुभव करे। जब तक भारतवर्ष आर्थिक दृष्टि से परमुखापेक्षी है तथा भारत की तीस कोटि सन्तान को आर्थिक उन्नति का समान अवसर प्राप्त नहीं है, जब तक उसकी उन्नति के द्वार खुले नहीं हैं, तथा उसके साधन प्रस्तुत नहीं हैं तब तक भारतवर्ष विश्व की प्रगति में कदापि सहायक नहीं हो सकता। न तो वह जीवन के सत्य का साक्षात्कार कर सकेगा और न मानव की स्वतंत्रता का ही।

आर्थिक स्वाधीनता के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता की भी आवश्यकता है। आत्मानुभूति के प्रयत्नों में जिन सामाजिक व्यवस्थाओं एवं पद्धतियों की राष्ट्र अपनी सहायता के लिए सृष्टि करता है, अथवा जिन रीति-रिवाजों में उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति होती है वे ही यदि कालावपात से मार्ग में बाधक होकर उसके ऊपर भार रूप हो जायें तो उनसे मुक्ति पाना भी प्रत्येक राष्ट्र के लिए आवश्यक है। यात्रा की एक मंजिल में जो साधन उपयोगी सिद्ध हुए हैं वे दूसरी मंजिल में भी उपयोगी सिद्ध होंगे यह आवश्यक नहीं। साधन तो प्रत्येक मंजिल के अनुरूप ही चाहिए तथा इस प्रकार प्रयाण करते हुए प्राचीन साधनों का मोह परतन्त्रता का ही कारण हो सकता है। क्योंकि स्वतंत्रता केवल उन तन्त्रों का समष्टिगत नाम है जो स्वानुभूति में सहायक होते हैं।

राष्ट्र की सांस्कृतिक स्वतन्त्रता तो अत्यन्त महत्व की है, क्योंकि सस्कृति ही राष्ट्र के सम्पूर्ण शरीर में प्राणों के समान संचार करती है। प्रकृति के तत्त्वों पर विजय पाने के प्रयत्न में तथा मानवानुभूति की कल्पना में मानव जिस जीवन दृष्टि की रचना करता है, वह उसकी संस्कृति है। संस्कृति कभी गतिहीन नहीं होती अपितु वह निरन्तर गतिशील है; फिर भी उसका अपना एक अस्तित्व है। नदी के प्रवाह की भांति निरन्तर गतिशील होते हुए भी वह अपनी निजी विशेषताएँ रखती है जो उस सांस्कृतिक दृष्टिकोण को उत्पन्न करने वाले समाज के संस्कारों में तथा उस सांस्कृतिक भावना से अन्य राष्ट्र के साहित्य, कला, दर्शन, स्मृति, शास्त्र, समाज-रचना, इतिहास एवं सभ्यता के विभिन्न अंग-अंगों में व्यक्त होती है। परतन्त्रता के काल में इन सब पर प्रभाव पड़ जाता है तथा स्वाभाविक प्रवाह अवरुद्ध

हो जाता है। आज स्वतन्त्र होने पर आवश्यक है कि हमारे प्रवाह की सम्पूर्ण बाधाएँ दूर हों तथा हम अपनी प्रतिभा के अनुरूप राष्ट्र के सम्पूर्ण क्षेत्रों में विकास कर सकें। राष्ट्रभक्ति की भावना को निर्माण करने और उसको साकार स्वरूप देने का श्रेय वैसे भी राष्ट्र की संस्कृति को ही है, तथा वही राष्ट्र की संकुचित सीमाओं को तोड़कर मानव को एकात्मकता का अनुभव कराती है। अतः संस्कृति की स्वतन्त्रता परमावश्यक है। बिना उसके राष्ट्र की स्वतन्त्रता निरर्थक ही नहीं टिकाऊ भी नहीं रह सकेगी।

हम स्वतन्त्रता के इन मूल्यों को समझें। स्वतन्त्रता को कुछ व्यक्ति–समूह की स्वार्थसिद्धि का साधन बनाना, फिर वह व्यक्ति–समूह ५० करोड़ का ही क्यों न हो, स्वतन्त्रता को उसके महान् आसन से गिराकर धूल में मिलाना होगा। इस प्रकार के दृष्टिकोण से कार्य करने पर न तो स्वतन्त्रता की हम अनुभूति ही कर पायेंगे और न हम विश्व की ही कुछ सेवा कर पायेंगे। अपितु इस प्रकार का स्वार्थी और अहंकारी भाव लेकर कार्य करने पर हम उसी इतिहास की पुनरावृत्ति करेंगे जो कि एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र पर प्रभाव जमाने में निर्माण करता है। यहाँ पात्र भिन्न होंगे, वे एक ही राष्ट्र के घटक होंगे, पास–पास रहने वाले पड़ोसी होंगे और इसलिए उनके कृत्य और भी भयंकर हो जाते हैं तथा उसका परिणाम भी सर्वव्यापी विनाश हो सकता है। किन्तु हमारा विश्वास है कि राष्ट्र की जीवनदायिनी शक्ति अपने सच्चे स्वरूप और कार्य को समझेगी तथा विनाश के स्थान पर विकास के मार्ग पर अग्रसर होती हुई भारत की ५० कोटि सन्तान अपने परम लक्ष्य परब्रह्म की प्राप्ति तथा विश्वात्मा की अनुभूति करायेगी।

☆

४

राष्ट्र और राज्य

राष्ट्र और राज्य

आज जिस अर्थ में शासन की ओर से राष्ट्रीयकरण की मांग गुंजायी जा रही है हम आँख बन्द करके इसके समर्थक नहीं हो सकते। एक सज्जन कहने लगे कि "आप राष्ट्र के प्रति सम्पूर्ण समर्पण के लिए कृतसंकल्प हैं, फिर राष्ट्रीयकरण में मर्यादा की बात आप क्यों करते हैं?" निस्संदेह यह प्रश्न जितना सरल है उसका उत्तर उतना ही गम्भीर है। राष्ट्रकार्य के व्रती प्रत्येक व्यक्ति को 'राष्ट्र' और 'राज्य' का अन्तर भलीभांति समझ लेना चाहिए चारों ओर व्याप्त राजनीति के कोलाहल में आज 'राष्ट्र' और 'राज्य' के बीच मूलगामी और सूक्ष्म अन्तर को समझ पाना कठिन होता जा रहा है। यही कारण है जो हम राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय प्रगति, राष्ट्रीय लक्ष्य आदि कितने ही महत्वपूर्ण प्रश्नों का समाधानकारक उत्तर खोज पाने में असमर्थ हो रहे हैं। यहाँ तक कि हम अपने राष्ट्र–जीवन की शुद्ध सांस्कृतिक धारा के सम्बन्ध में भी भ्रमित–चित्त हो गये हैं।

वास्तव में 'राष्ट्र' और 'राज्य' दो अलग–अलग सत्ताएँ हैं। बहुत से लोग इस अन्तर को नहीं समझ पाते। वे राज्य और राष्ट्र को एक ही समझ कर चलते हैं और वैसा ही प्रयोग करते हैं। राज्य के लिए राष्ट्र या राष्ट्र के लिए राज्य? इस प्रश्न का ठीक–ठीक उत्तर पाना है तो हमें इन दोनों के वास्तविक महत्त्व को समझना होगा।

राष्ट्र एक जीवमान इकाई है। वर्षों–शताब्दियों लम्बे कालखण्ड में इसका विकास होता है। किसी निश्चित भू–भाग में निवास करने वाला मानव समुदाय जब उस भूमि के साथ तादात्म्य का अनुभव करने लगता है, जीवन के विशिष्ट गुणों को आचरित करता हुआ समान परम्परा और महत्त्वाकांक्षाओं से युक्त होता है, सुख–दुःख की समान स्मृतियाँ और शत्रु–मित्र की समान अनुभूतियाँ प्राप्त कर परस्पर हित सम्बन्धों में ग्रथित होता है, संगठित होकर अपने श्रेष्ठ जीवन–मूल्यों की स्थापना के लिए सचेष्ट होता है, और इस परम्परा का निर्वाह करने वाले तथा उसे अधिकाधिक तेजस्वी बनाने के लिए महान् तप, त्याग, परिश्रम करने वाले महापुरुषों की शृंखला

निर्माण होती है तब पृथ्वी के अन्य मानव समुदायों से भिन्न एक सांस्कृतिक जीवन प्रकट होता है। इस भावात्मक स्वरूप को ही राष्ट्र कहा जाता है। जब तक यह राष्ट्रीय अस्मिता बनी रहती है राष्ट्र जीवित रहता है। इसके क्षीण होने से राष्ट्र क्षीण होता है और नष्ट होने से राष्ट्र नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार 'राष्ट्र' एक स्थायी सत्य है। राष्ट्र की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए 'राज्य' पैदा होता है। 'राज्य' की उत्पत्ति के दो कारण बताये जाते हैं। याने 'राज्य' की आवश्यकता दो स्थितियों में होती है। पहली आवश्यकता तब होती है जब राष्ट्र के लोगों में कोई विकृति आ जाय। उसके कारण उत्पन्न समस्याओं का नियमन करने के लिए राज्य उपस्थित किया जाता है। उदाहरण के लिए किसी मोहल्ले में यदि कोई झगड़ा न हो और न ही ऐसी कोई सम्भावना हो तो पुलिस कहीं नहीं दिखाई पड़ती। किन्तु यदि झगड़ा हो जाये तो झट पुलिस को बुलाया जाता है। दूसरी आवश्यकता तब पड़ती है जब समाज में कोई जटिलता आ उपस्थित हुई हो। सार्वजनिक जीवन में व्यवस्था निर्माण करना जरूरी हो। निर्बलता, असहायता और दरिद्रता का लाभ शक्तिशाली, सम्पन्न और साधन–युक्त वर्ग न उठा सके, सब न्याय की सीमाओं में बंधे चल सकें, इसके लिए राज्य का निर्माण किया जाता है। वास्तव में इन दो कारणों से ही 'राज्य' उत्पन्न होता है। समाज में आई हुई विकृति का नियमन करने के लिए विकृत व्यक्तियों को दण्डित करना याने शांति स्थापित करना और समाज में आई हुई जटिलता को सुलझाकर प्रत्येक व्यक्ति के लिए न्यायपूर्ण, सम्मानित जीवन सुकर बना देना यानें सुव्यवस्था करना ही 'राज्य' के कार्य माने गये हैं। तीसरा एक कार्य जो इन्हीं दोनों कार्यों की पूर्ति का महत्त्वपूर्ण अंग है वह विश्व के अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना है। याने बाह्य आक्रमण से रक्षा करने का कार्य भी राज्य करता है।

इसके लिए 'राज्य' राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरणार्थ जिसे हम संयुक्त राष्ट्र संघ कहते हैं, वास्तव में वह राष्ट्रों का संघ नहीं, राज्यों का संघ है। राष्ट्रों के प्रतिनिधि के रूप में वहाँ राज्य उपस्थित हैं। किन्तु यदि राज्य में विकृति आ जाय अथवा वह अपने दायित्व को निभाने में असमर्थ सिद्ध हो तो 'राष्ट्र' ऐसे 'राज्य' को बदल डालता है। 'राष्ट्र' अपने प्रतिनिधि को बदल डालता है। साधारण अर्थ में कहते हैं कि अमुक देश में सरकार बदल गई। जिसे हम प्रजातंत्र कहते हैं वह भी राज्य के उपयोगी बनाये रखने और आवश्यकता पड़ने पर उसे बदल डालने की प्रक्रिया का ही नाम है। राज्य बदला जा सकता है किन्तु कोई भी प्रजातंत्र 'राष्ट्र' को नहीं बदल सकता। राष्ट्र का अस्तित्व बहुमत और अल्पमत पर आधारित नहीं रहता। राष्ट्र की एक स्वयंभू सत्ता है। वह स्वयं प्रकट होती है और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रों में

विभिन्न इकाइयों की स्थापना करती है। ये विभिन्न इकाइयाँ जिनमें 'राज्य' भी एक है आपस में परस्पर अनुकूल होकर कार्य करें और राष्ट्र की शक्ति को मजबूत करने के लिए अथक प्रयत्नशील हों इसके लिए आवश्यक होता है कि राष्ट्र को सदैव जाग्रत रखा जाय।

'राष्ट्र के सुप्त होने से ही सब प्रकार की खराबियाँ घर करती हैं'। राष्ट्र सुप्त होने से उसकी विभिन्न इकाइयों का प्रतिनिधित्व करने वाली सत्ताएँ जैसे राज्य, पंचायत, परिवार आदि सभी अनियंत्रित और उच्छृंखल हो जाती हैं। राज्य भ्रष्ट हो सकता है। **'प्रभुता पाय काहि मद नाहीं'** वाली चौपाई सही उतरती है। किन्तु यदि राष्ट्र जाग्रत और दक्ष हो तो राज्य की प्रभुता मर्यादित रहती है। राज्य तो राष्ट्र का वकील है। कई बार वकील अपने मुवक्किल की ओर से पैरवी करते समय ऐसी भाषा में बातचीत करता है मानो वही प्रार्थी है। ऐसा करना जरूरी होता है। वकालतनामा लिख दिया जाता है किन्तु यदि वकील ठीक काम न करे तो वकालतनामा बदला जा सकता है। यही बात राज्य के साथ भी है। राज्य के समस्त अधिकार राष्ट्र द्वारा ही प्रदान किये जाते हैं और यदि राष्ट्र जाग्रत न रहा तो राज्य उन अधिकारों को दुरुपयोग कर सकता है। राज्य यदि अनियंत्रित होकर राष्ट्र के समस्त सत्ताओं का अपहरण कर ले तो तानाशाही स्थापित हो जाती है और राष्ट्र पंगु हो जाता है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि 'राज्य' का महत्त्व कम है। राज्य का महत्त्व विवादातीत है। राष्ट्र की अभिवृद्धि करना, संरक्षण करना, वैभवशाली बनाना, राष्ट्र की आवश्यकतानुसार निर्णय लेकर विश्व सम्बन्धों में पग उठाना आदि कार्य 'राज्य' के हैं। इतना होते हुए भी 'राज्य' सदा स्थायी नहीं रहता। ऐसे अवसर भी आ सकते हैं जब 'राज्य' न हो परन्तु 'राष्ट्र' विद्यमान रहता है। सतयुग का ऐसा ही वर्णन मिलता है। सतयुग का वर्णन करते हुए कहा गया है 'न राज्यं न च राजाऽऽसीत् न दण्ड्यो न च दाण्डिकः' याने तब न राज्य था, न राजा था, न दण्ड था, न दण्ड देने वाला। किन्तु तब भी राष्ट्र तो था ही। इसी प्रकार की कल्पना साम्यवादी उद्घोषक कार्लमार्क्स ने भी 'विदरिंग अवे आफ दी स्टेट' (राज्य के क्षीण हो जाने) के माध्यम से स्वीकार की है। उसकी भी यही कल्पना है कि अन्त में राज्य नहीं रहेगा। तब क्या रहेगा ? निश्चित ही किन्हीं सर्वमान्य सिद्धान्तों के आधार पर राष्ट्र रहेगा। भले ही १९वीं शती में मार्क्स ने 'राष्ट्र' को नहीं माना किन्तु विगत ५० वर्षों के कम्युनिस्ट अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि 'राष्ट्र' की प्रेरणा महज पूँजीवादी व्यवस्था की उपज नहीं है, अपितु कम्युनिस्ट व्यवस्था में भी वही जीवन की सबसे शक्तिदायी प्रेरणा है। इतना ही नहीं जब कोई राष्ट्र गुलाम हो जाता है या उस राष्ट्र की भूमि का कोई हिस्सा गुलाम हो जाता है याने पराया राज्य स्थापित हो जाता है तब भी राष्ट्र रहता है। जैसे कि जब अंग्रेज यहाँ आये, उनका शासन

हुआ, देश गुलाम हुआ तो ब्रिटिश गवर्नमेंट कही जाने लगी। उस समय भारतीय राज्य नष्ट हो गया था अथवा भारतीय राजाओं की संकुचित सीमाओं में कुण्ठित होकर पराये राज्य का आश्रित बन गया था। लेकिन क्या कोई कह सकता है कि तब भारतीय राष्ट्र नहीं रहा था? यदि भारत का राष्ट्रजीवन न रहा होता तो आजादी के प्रयत्न ही नहीं होते। 'राज्य' नष्ट होने पर भी 'राष्ट्र' विद्यमान था। इसीलिए राष्ट्रीय–जागरण का मंत्र फूँका गया। चेतना जगी। राष्ट्र अपनी अभिव्यक्ति के लिए 'स्वराज्य' घोष करने लगा। वह कौन था जो राज्य न होते हुए भी स्वराज्य की प्राप्ति के लिए फांसी के फंदों को चूमने या काले पानी की सजा भुगतने के समय हृदय में विश्वास और आनन्द की सृष्टि करता था? उस समय भी 'राष्ट्र' विद्यमान था। साहित्य, कला, दर्शन, वाणिज्य के विविध क्षेत्रों में इसी के प्रतिबिम्ब मुखरित हो रहे थे। वन्दे मातरम् के घोष पर वह किसकी प्रेरणा थी जो बलिदान के लिए उद्यत करती थी? कौन था जो कश्मीर से कन्याकुमारी तक एक भाव का अलख गुंजा रहा था? निश्चित ही वह 'राष्ट्र' था 'राज्य' नहीं।

ऐसे ही जब 'राष्ट्र' पूर्ण विकसित होता है तो उसके अन्तर्गत अनेक राज्य हो सकते हैं। ये राज्य भिन्न–भिन्न रूप और पद्धतियों के भी हो सकते हैं। भारतीय इतिहास में हम ऐसे कई राजवंशों का वर्णन पाते हैं। ये राज्य भिन्न–भिन्न पद्धतियों का भी पालन करते हैं। कहीं गणराज्य थे तो कहीं संघराज्य, कहीं वैराज्य था तो कहीं राजतंत्र। इनके आकार भी भिन्न थे। ये सब राज्य सत्ताएँ उभरती और विलीन होती रहीं। किन्तु राष्ट्र सर्वकाल विद्यमान रहा और इन परिवर्तनों का नियमन करता रहा। राज्य स्थायी नहीं रहते। जैसे शरीर पर कपड़े आवश्यकतानुसार बदलते रहते हैं वैसे राज्य भी राष्ट्र की आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रकट होते हैं और आवश्यकतानुसार उनके विविध स्वरूप हो सकते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्र के लिए राज्य है, राज्य के लिए राष्ट्र नहीं। इस प्रकार राजनीति के लिए राष्ट्रीयता नहीं, राष्ट्रीयता के पोषण के लिए राजनीति होनी चाहिए। वह राजनीति जो राष्ट्र को क्षीण करे अवांछनीय रहेगी। यही बात सुराज्य और स्वराज्य में भी भेद स्पष्ट करती है। स्वराज्य में यदि कष्ट हो तो भी वह उचित है बजाय उस सुराज्य के जो पराया हो। स्वराज्य की व्याख्या में तीन बातें प्रमुख रूप से आती हैं। पहली बात तो यह है कि राज्य उन लोगों के द्वारा संचालित हो जो राष्ट्र के अंग हैं। दूसरी विशेषता यह है कि ऐसा राज्य राष्ट्र के हित में चलना चाहिए याने राष्ट्रीय हित में नीतियों का संचालन होना चाहिए। और तीसरी बात यह है कि ऐसे राज्य में राष्ट्र का हित साधने का सामर्थ्य अपना स्वयं का होना चाहिए याने स्वावलम्बन के बिना स्वराज्य की कल्पना करना ही गलत है। राज्य अपने राष्ट्र के घटकों के हाथ में रहने पर भी यदि आर्थिक अथवा वैदेशिक

मामलों में किसी अन्य राष्ट्र का पिछलग्गू बन गया या दबाव में आने लगा तो स्वराज्य निरर्थक हो जाता है। सुरक्षा के मामले में यदि राज्य आत्मनिर्भर नहीं, नीतियों के मामले में स्वतंत्र नहीं और आर्थिक योजना में स्वयं पूर्ण नहीं तो वह राष्ट्र के लिए अहितकर कार्य करने की ओर प्रेरित हो जाता है। ऐसा परावलम्बी राज्य विनाश का कारण बनता है।

इसलिए स्वराज्य भी तभी तक उपयोगी और सार्थक है जब तक वह स्वराष्ट्र की आवश्यकता की पूर्ति करता है। यह तभी हो सकता है जब राष्ट्रीय समाज 'राज्य' से बढ़कर 'राष्ट्र' की आराधना करें। सच्चा सामर्थ्य राज्य में नहीं 'राष्ट्र' में ही रहता है। इसलिए जो राष्ट्र के प्रेमी हैं वे राजनीति के ऊपर राष्ट्रभाव का आराधन करते हैं। राष्ट्र ही एकमेव सत्य है। इस सत्य की उपासना करना सांस्कृतिक कार्य कहलाता है। राजनीतिक कार्य भी तभी सफल हो सकते हैं जब इस प्रकार के प्रखर राष्ट्रवाद से युक्त सांस्कृतिक कार्य की शक्ति उसके पीछे सदैव विद्यमान रहे।

☆

५

राष्ट्र का स्वरूप : चिति

राष्ट्र का स्वरूप : चिति

राष्ट्र का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए उस मूल तत्त्व की ठीक–ठीक पहिचान करनी होगी, जिसके आविर्भाव से राष्ट्र का उदय होता है, जिसके कारण राष्ट्र की धारणा होती है और जिसके क्षीण पड़ने से राष्ट्र विनाश की ओर अग्रसर हो जाता है। यह मूल तत्त्व है – राष्ट्र की प्रकृति जिसे शास्त्रीय ढंग से 'चिति' नाम से संम्बोधित किया गया है। 'चिति' ही वह मापदण्ड है जिससे हर वस्तु को मान्य अथवा अमान्य किया जाता है। उदाहरण के लिए हम रामायण का प्रसंग देखें। विभीषण ने अपने भाई रावण का साथ छोड़कर भगवान रामचन्द्र जी का पक्ष ग्रहण किया। इसके लिए विभीषण की सराहना की गई है। वैसे रावण वेदों का ज्ञाता और उच्च कुल का ब्राह्मण था। किन्तु रावण की जय–जयकार नहीं होती। प्रभु रामचन्द्र जी ही हमारे इष्ट और आदर्श देवता हैं। उसी प्रकार महाभारत में हम श्रीकृष्ण को अवतार के नाते पूजते हैं। जिन्होंने अपने सगे मामा कंस को पछाड़ा, कितने ही कौरव सेनापतियों के विनाश के लिए प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में प्रत्येक भारतीय पाण्डवों की विजय को धर्म का, और कौरवों को अनीति का पक्ष मानता है। इसी प्रकार अन्य कई बातों के सम्बन्ध में हम भारत के राष्ट्रीय मानस की अद्‌भुत एकता का दृश्य देखते हैं। आत्मा–परमात्मा का सम्बन्ध, मानव जीवन का लक्ष्य, उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ चारित्रिक गुण सम्पदा का चयन और ऐसे आचरणों को चरितार्थ करने वाले महापुरुषों के प्रति समान श्रद्धा–आदर का भाव आदि कितनी ही ऐसी बातें दिखाई पड़ती हैं जिनके सम्बन्ध में समान मूल्यांकन विभिन्न भाषाओं के उपलब्ध ग्रन्थों के विपुल साहित्य में एक जैसी चिन्तनधारा की विविध झांकियाँ मिलती हैं। निःसन्देह इस एकरूपता को देखकर हम एक क्षण अवाक् होकर सोचने लगते हैं कि इस एक जैसे नीर–क्षीर विवेक का आधार क्या है? यह आधार कब, कैसे निर्माण हुआ? राष्ट्र के नाते हमने किस समय ये मापदण्ड निर्धारित किये? और शताब्दियों लम्बे इस कालखण्ड में भरे अनगिनत परिवर्तनों के बावजूद वह कौन–सी निर्णायक वस्तु है जो प्रत्येक बाहरी हलचल को अपनी आंतरिक इच्छाशक्ति

की अनुगामी बनाकर रखने में समर्थ होती है? राष्ट्र की यह चिर–जीवन–शक्ति, जिसे 'चिति' कहा गया है, क्या है?

इसे समझने के लिए हमें उन सभी भूलों से सर्वप्रथम बचना होगा जो राष्ट्र के नाम पर आजकल प्रचलित हैं। पूर्व अध्याय में 'राष्ट्र' और 'राज्य' का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सामान्यतः राज्य को ही राष्ट्र समझकर लोग चलते हैं, वे गलती करते हैं। 'राज्य' राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला एक अंग है। राज्य अनेक अवसरों पर राष्ट्र का प्रतिनिधित्व भी करता है और इसी कारण 'राज्य' को ऐसा महत्वपूर्ण स्थान भी प्राप्त है कि उसकी उपेक्षा कर नहीं चला जा सकता, फिर भी इन कारणों से हम 'राज्य' को ही राष्ट्र समझ बैठने की भूल नहीं कर सकते, क्योंकि राष्ट्र एक जीवमान इकाई है, जो स्वयं प्रकट होता है और जो अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए राज्य सहित अनेक छोटी–बड़ी इकाइयों का निर्माण करता है। ये विभिन्न इकाइयाँ राष्ट्र के लिए पोषक बनकर कार्य करें, और इनमें कभी किसी प्रकार का टकराव निर्माण न हो, इसके लिए आवश्यक होता है कि राष्ट्र को जाग्रत रखा जाय। यजुर्वेद में **'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'** मंत्र द्वारा यही मनीषा व्यक्त की गई है कि हम जागते रहेंगे याने राष्ट्र को जाग्रत रखेंगे।

इसी प्रकार हमें यह बात भी भली–भांति समझ लेनी होगी कि 'देश' और 'राष्ट्र' भी अलग–अलग हैं। यद्यपि 'राज्य' से 'देश' अधिक विशाल और स्थायी सत्ता है और इसी कारण बहुधा देश और राष्ट्र समानार्थी शब्दों के रूप में ही प्रयोग में आते हैं। 'भारत–देश हमारा प्यारा' गीत जब हम गुनगुनाते हैं तो वास्तव में हम राष्ट्र का ही ध्यान करते हैं। इस प्रकार 'देश' और 'राष्ट्र' शब्द एक जैसे ही बोले जाते हैं। फिर भी राष्ट्र की जिस चिरन्तन शक्ति का सूक्ष्म अध्ययन हमें करना है, उसके लिए आवश्यक है कि हम देश और राष्ट्र के अन्तर को भी ध्यान में रखें। जिस प्रकार 'राष्ट्र' की 'राज्य' से भिन्न सत्ता है उसी प्रकार 'राष्ट्र' और 'देश' भी एक नहीं है। भूमि और जन को मिलाकर देश बनता है। एक निश्चित भूमिखण्ड और उसमें निवास करने वाला मानव समुदाय मिलकर देश कहा जाता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि भूमिखण्ड और जनसमुदाय दोनों ऐसी बातें हैं जिन्हें हम भली प्रकार देख, सुन, समझ सकते हैं। याने देश दृश्यमान सत्ता है। देश दिखाई पड़ता है। इसलिए जब हम राष्ट्र का वर्णन करने लगते हैं तो हमें इसी दृश्यमान देश का वर्णन करना पड़ता है। यही कारण है कि जिससे देश और राष्ट्र समानार्थी बनकर उपस्थित होते हैं। जिस प्रकार 'राज्य' राष्ट्र का प्रतिनिधि बनकर हमें दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार देश भी राष्ट्र की अभिव्यक्ति का ठोस आधार बनकर हमारे सामने उपस्थित होता है। यहाँ तक कि बिना देश के हम किसी राष्ट्र की कल्पना भी नहीं कर सकते। बिना भूमिखण्ड और बिना किसी मानव समुदाय के राष्ट्र भला

कैसे कहा जा सकता है। फिर भी यह सूक्ष्म रहस्य हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जिस प्रकार देश एक दृश्यमान सत्ता है, उसी प्रकार 'राष्ट्र' एक अदृश्यमान सत्ता है। देश दिखाई पड़ता है, राष्ट्र दिखाई नहीं पड़ता। ठीक वैसे ही जैसे शरीर दिखाई पड़ता है, आत्मा दिखाई नहीं पड़ती और यह भी कि बिना शरीर के आत्मा का प्रकटीकरण नहीं हो सकता, साथ ही बिना आत्मा के शरीर मुर्दा ही गिना जावेगा। देश और राष्ट्र अभिन्न होते हुए भी अलग–अलग सत्ताएँ हैं। राष्ट्र एक अदृश्य सत्ता होने के साथ–साथ अधिक गूढ़ और चिरन्तन भी है। इस सम्बन्ध में हम अपने भारत का ही ध्यान करें। हम भारत के प्रति अनन्य भक्तिभाव लेकर कार्य करते हैं। देश के नाते 'भारत' पृथ्वी पर एक भू–भाग का ही नाम है। तीन ओर समुद्र और उत्तर में हिमालय की शाखा–प्रशाखा पर्वत श्रेणियों से घिरा हुआ भू–भाग ही हमारा भारत देश है। इस अर्थ में भारत देश पृथ्वी पर जमीन के एक टुकड़े का नाम है। किन्तु क्या जमीन का टुकड़ा ही यह राष्ट्र है, जिसकी हम आराधना करते हैं? निस्संदेह कोई भी राष्ट्रभक्त इसे स्वीकार नहीं करेगा। जमीन का टुकड़ा मात्र होने से कोई राष्ट्र नहीं बन जाता। दुनियाँ में कई ऐसे भू–खण्ड हैं जिन्हें हम राष्ट्र नहीं कह सकते। उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के भूमिखण्डों को क्या हम राष्ट्र कह सकेंगे? इसी प्रकार दक्षिण अफ्रीका में कई भूमिखण्ड हैं जो राष्ट्र नहीं हैं। कई द्वीप भी ऐसे हैं जो भूमि के टुकड़े हैं, वहाँ लोग भी रहते हैं किन्तु वहाँ कोई राष्ट्रजीवन विकसित नहीं हुआ। इस तथ्य को अधिक सरलता से समझना हो तो हम अपने भारत के विभिन्न प्रदेशों का उदाहरण ले सकते हैं। उत्तर प्रदेश एक भौगोलिक इकाई है, बंगाल भी जमीन का एक टुकड़ा है। किन्तु उत्तर प्रदेश या बंगाल कहने से क्या किसी राष्ट्र का बोध होता है? 'भारत' कहने से जिस प्रकार राष्ट्र–बोध होता है वैसा केवल उत्तर प्रदेश अथवा बंगाल जैसे किसी प्रदेश का नाम लेने से नहीं होता। इसलिए यह भलीभांति समझ लेना चाहिए कि निश्चित भू–भाग यद्यपि राष्ट्र के लिए एक अनिवार्य और प्रथम आवश्यकता है फिर भी केवल भू–भाग राष्ट्र नहीं बन पाता। राष्ट्र का स्वरूप जिस तत्त्व के अस्तित्व पर निर्भर करता है, वह अदृश्यमान होते हुए भी ऐसा विलक्षण तत्त्व है जिसका अनुभव सर्वाधिक तीव्रता से होता है। जो महत्त्व व्यक्ति–जीवन में व्यक्ति की अस्मिता का है वैसा ही राष्ट्रीय अस्मिता का भी है। राष्ट्रीय अस्मिता रहने से राष्ट्र जीवित रहता है, उसके क्षीण पड़ने से राष्ट्र कमजोर होता है और उसके लोप अथवा विस्मरण होने से सम्पूर्ण राष्ट्र का ही विनाश होने लगता है। विश्व–पटल पर कितने ही राष्ट्र आज अतीत की स्मृति मात्र बनकर रह गये। इसका कारण भी यही है। वहाँ का भूमिखण्ड और लोग आज भी हैं, फिर भी प्राचीन ईरान, यूनान, मिस्र सब समाप्त हो गये। याने राष्ट्र की अस्मिता, उसकी मूल प्रकृति नष्ट हो गयी। राष्ट्र का स्वरूप उसकी इस अस्मिता में ही

निवास करता है।

जब हम कहते हैं कि व्यक्ति के समान राष्ट्र की भी एक अस्मिता होती है तो हमारे समक्ष भूमिखण्ड में निवास करने वाला एक मानव–समुदाय उपस्थित होता है। वास्तव में 'राष्ट्र' जिसकी अस्मिता के अर्थ को समझने का हम प्रयत्न कर रहे हैं एक समूहवाची शब्द ही है। जैसे कक्षा कहने से किसी एक विद्यार्थी का नहीं विद्यार्थियों के पूरे समूह का बोध होता है, उसी प्रकार राष्ट्र कहते ही समूह का बोध होता है। राष्ट्र के इस समूह को सामान्यतः जो नाम दिया जाता है, वह है 'जन' जिसे आजकल हम जनता कहते हैं। जनसमूह ही निश्चित भू–भाग में राष्ट्र के नाम से पुकारा जाता है। किन्तु वह कौन सा जनसमूह है? कौन से जन समूहबद्ध होकर राष्ट्र बनते हैं? क्या कैसे भी लोगों के समूह को हम राष्ट्र कहेंगे? कितने जन, किस प्रकार के जन? क्योंकि जिस राष्ट्रीय अस्मिता के कारण 'राष्ट्र' शब्द सार्थक होता है, वह कैसी भी भीड़ के एकत्रित होने मात्र से प्रकट नहीं होती। इन प्रश्नों के उत्तर कठिन नहीं हैं, फिर भी कई लोग गड़बड़ा जाते हैं। अधिकतर लोग इस मामले में राज्य को आधार मानकर बोल उठते हैं कि राज्य में रहने वाले सभी व्यक्ति 'राष्ट्र' के जन हैं। जो लोग इससे ऊपर उठकर सोच पाते हैं वे देश को आधार मानकर जन की कल्पना करते हैं। उनके मत में वे सभी लोग आ जाते हैं जो उस भूमि में निवास करने वाले हैं। ये दोनों तरीके राष्ट्र सम्बन्धी विचार करने के स्थूल तरीके हैं। राष्ट्र के जिस 'जन' का भाव अभिप्रेत है उसे ये दोनों विचार ठीक–ठीक व्यक्त नहीं कर पाते। इसलिए हमें राज्य अथवा देश के आधार पर 'जन' की कल्पना करने के पहले राष्ट्र के 'एक–जन' का सम्यक् विचार कर लेना होगा। तभी हम राष्ट्रीय अस्मिता की सच्ची गहराई तक पहुँच सकेंगे।

'राष्ट्र' से जिस समूह का बोध होता है, उसे हम 'एक–जन' कहते हैं। किन्तु 'जन' एक जीवमान इकाई है। जिस प्रकार व्यक्ति पैदा होता है, बनाया नहीं जाता, उसी प्रकार 'जन' की भी एक स्वतंत्र स्वयंभू सत्ता है।

यह सच है कि व्यक्तियों के समूह कृत्रिम रूप से भी बनाये जाते हैं, जैसे क्लब और संस्थाएँ– समूह में लोग एकत्रित होते हैं, नामकरण करते हैं, संस्था बनती है, संविधान तैयार होता है। जिस प्रकार ये बनाये जाते हैं, उसी प्रकार आवश्यकतानुसार तोड़े भी जाते हैं। इनके बनाने वाले और तोड़ने वाले भी होते हैं। उसी प्रकार बड़े–बड़े मजहब भी बनते हैं। कई प्रकार के सम्प्रदाय चलते हैं। राजनीतिक पार्टियाँ बनती और बिगड़ती हैं। व्यवसायों में समूहों की अलग–अलग यूनियनें बनती हैं। सफलता के लिए इनमें लोग मिलकर काम करते हैं, परस्पर सहयोग देते हैं। चाहे ताश खेलने में दो–चार का हो अथवा हजारों–लाखों का, आपस में मेलजोल होता है। किन्तु ये सब समूह बनाये जाते हैं, स्वयंभू प्रकट नहीं

होते। किसी निश्चित आवश्यकता के लिए सीमित और निर्देशित उद्देश्य के कारण ये समूह बनते हैं और आवश्यकता पूर्ण होने पर अथवा बीच में ही इन्हें विसर्जित भी कर दिया जाता है।

किन्तु जिस 'जन' सत्ता की हम बात कर रहे हैं, वह इस प्रकार कृत्रिम रूप से नहीं बनाया जा सकता। ऐसा नहीं होता कि पाँच–पचास अथवा पचास–सौ करोड़ लोग एकत्रित हुए, उन्होंने अपना 'आर्टिकिल आफ एसोसियेशन' घोषित किया, सब की सभा बुलाई गई, नामकरण हुआ, पंजीकरण कर लिया गया और वे सब 'जन' राष्ट्र कहलाने लगे। 'जन' का कोई रजिस्टर नहीं होता। न ही उनका कोई निर्माता, जनक अथवा सर्जक होता है। 'जन' कृत्रिम नहीं होता। यह जीवमान चीज है और स्वयं पैदा होती है। इसके अन्दर एक जीवन है, एक प्राणशक्ति है। कृत्रिम समूह और जीवन्त सत्ता में यह बहुत बड़ा अन्तर है। ऊपर से देखने में यह अन्तर समझ में आना कठिन है। मोटर भी दौड़ती है और घोड़ा भी दौड़ता है किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि मोटरगाड़ी बनाई जाती है और घोड़ा किसी फैक्टरी में तैयार नहीं किया जा सकता। घोड़ा पैदा होता है। दोनों दौड़ते हैं इसलिए यदि हम दोनों को एक जैसा ही समझ कर व्यवहार करेंगे तो काम नहीं चलेगा। मोटर कृत्रिम है, इसलिए उसकी दौड़ने की शक्ति बाहर से गति नियन्त्रित कर कम या अधिक की जा सकती है किन्तु घोड़े की तो अपनी ही शक्ति होगी। इसी प्रकार सभी जीवन्त और जड़ वस्तुओं का अन्तर है। पेड़ जमीन से पैदा होते हैं। उनका विकास बाहर से डाली, फूल, पत्ती जोड़कर नहीं किया जा सकता। जीवन्त का विकास कोई भी बाहरी वस्तु नहीं कर सकती। जीवमान का यही लक्षण है कि वह स्वयं विकसित होता है। 'जन' की भी एक जीवन्त सत्ता है जो स्वयं विकसित होती है। पुष्ट होकर बलशाली होती है। यह पुष्ट होना ही संगठित होना कहा जाता है। संगठन का आधार प्रेम है। यह परस्पर का प्रेमभाव भी 'जन' रूपी समूह–राष्ट्र में स्वाभाविक उत्पन्न होता है।

हम जब राष्ट्र–निर्माण शब्द का प्रयोग करते हैं, तब उसका भी यह अर्थ नहीं होता कि हम कृत्रिम रूप से राष्ट्र को बना सकते हैं। जैसे मकान बनाया जा सकता है, वैसे राष्ट्र नहीं बन सकता। राष्ट्र निर्माण के पीछे का भाव है, उसे मजबूत करना। राष्ट्र उत्पन्न होना एक लम्बी प्रक्रिया है जो स्वयं सम्पन्न होती है। सृष्टि की रचना ही इसका निर्धारण करती है कि किस राष्ट्र का सृजन, अभ्युदय, पुनरुत्थान अथवा पतन हो। क्योंकि सृष्टि में राष्ट्र का भी जीवनोद्देश्य होता है। सृष्टि द्वारा निर्धारित जीवनोद्देश्य को जब तक राष्ट्र निभाता रहता है, वह अस्तित्व में बना रहता है। हम अपने ही राष्ट्र को लें। क्या हम बता सकते हैं कि किस दिन यह राष्ट्र बनाया गया? इतिहास के पन्ने उलटते जावेंगे। एक समय आयेगा जब

इतिहास के पृष्ठ भी समाप्त हो जावेंगे, तब भी हमें यही कहना पड़ेगा कि उस समय भी राष्ट्र था। ऐसा कोई दिन, मुहूर्त या घटना नहीं बताई जा सकती, जब हमने राष्ट्र बनाया। विश्व के अनेक राष्ट्रों का यही क्रम है। एक लम्बी और अनवरत प्रक्रिया में से पीढ़ियां दर पीढ़ियां एक विशिष्ट प्रकृति लेकर वह 'जन' प्रकट होता है। इस 'जन' की मूल प्रकृति ही उसका जीवनाधार रहती है। यही 'जन' अपनी मूल प्रकृति के पोषण के लिए किसी भूखण्ड से सम्बन्धित होता है। उस भूमिखण्ड के साथ उसका सम्बन्ध माँ और पुत्र के समान रहता है। अपनी जीवनाधार मूल प्रकृति के समस्त पोषण तत्त्व उसे इस भूमि से ही मिलते हैं। यह मातृभूमि ही उसका सब भांति पोषण सम्वर्द्धन करती है। याने भूमिखण्ड केवल भूमि का टुकड़ा न होकर जीवन्त मातृशक्ति के रूप में उपस्थित रहता है। इधर इस पुत्ररूप समाज (जन) की अपनी स्वतंत्र जीवन्त शक्ति होते हुए भी वह बिना मातृभूमि के प्रकट नहीं हो सकता। उसका लालन-पालन, पोषण और वृद्धि नहीं हो सकती, यदि जननी न हो। 'जन' भी इसके लिए भूमि से आबद्ध रहता है। एक के बिना दूसरे की कल्पना करना ही कठिन है। पुत्र के बिना माँ का अस्तित्व निरर्थक है। कौन है जो उसकी गरिमा गाये, कण-कण से प्यार करे, इतिहास पढ़े, उसे गौरवान्वित करे? यह पुत्ररूप समाज न हो तो कौन है जो चप्पा-चप्पा धरती के संरक्षण के लिए चुनौतियाँ स्वीकार करे? यह भूमि के स्नेह की ही गरमी है जो जीवन संचार करती है। 'जन' और 'भूमि' का यह परस्पर सम्बन्ध पुत्र और माँ का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण है अन्यथा केवल उस भूमि पर निवास करने के तो अन्य प्रकार के सम्बन्ध भी हो सकते हैं। जैसे दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया आदि की स्थितियाँ है। उस भू-खण्ड के मूल निवासियों को समाप्त कर वहाँ यूरोप की जातियाँ जा बसी हैं। इसे 'कालोनी' कहा जाता है। इन जातियो का उस भूमि से सम्बन्ध उपभोग का है। पृथ्वी पर कई भाग अथवा टापू है जहाँ ऐसे लोग बसते हैं जिनके चित में सुदूर किसी अन्य भूमि के प्रति अनुराग रहता है। वे उस भूमि की संतान के नाते वहाँ नहीं बसते। उन्हें किसी दूसरे देश के सपने आते रहते हैं। ऐसे लोग तब तक उस भूमि के 'जन' नहीं कहला सकते, जब तक कि वे उस अन्य भूमि से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर लेते। देश शब्द वहीं पर प्रयोग में आवेगा जहाँ पर उसका सम्बन्ध किसी एक जन के साथ हो और वह मातृवत् हो। इसलिए जब हम राष्ट्र की बात कहते हैं तो अकेले भारत कहने से काम नहीं चलता। भारत कहने के बाद जमीन के टुकड़े का विचार आता होगा। परन्तु भारत माता कहने से एक विशिष्ट सम्बन्ध स्थापित होता है जो एक जन की भावना को स्पष्ट करता है। इसलिए वे लोग जो भारत माता की जय कहने से कतराते हैं, भारत में रहकर भी भारतीय-जन नहीं बने है। धूर्त अंग्रेज इस सच्चाई को भली-भांति समझते थे। इसलिए उन्होंने भारत के

इस 'एक-जन' को नष्ट करने के लिए भारत को 'इण्डिया' कहना शुरू किया। उनकी यह चाल कितनी सफल हुई, यह तो इसी बात से स्पष्ट है कि हम अपने संविधान में 'इण्डिया दैट इज भारत' हो गये हैं। अंग्रेज 'भारत' शब्द का उच्चारण नहीं कर सकते थे, सो बात नहीं, असल में वे भारत को भुला देना चाहते थे। भारत में पुत्र रूप रहने वाले जन का मातृक महत्त्व समाप्त करने की उनकी यह चाल थी। अंग्रेजों ने सोचा कि इण्डिया कहने पर कोई इण्डिया-माता नहीं कह सकेगा और तब भारत माता की जय का लोप सहज हो जावेगा।

तथापि सौभाग्य से इसका लोप नहीं हो पाया। भारत माता की जय का नाद गूंजता रहा। इमारी राष्ट्रीयता का आधार 'भारत माता' है, केवल भारत नहीं। माता शब्द हटा दीजिए तो भारत केवल जमीन का एक टुकड़ा मात्र रह जावेगा। इस भूमि का और हमारा ममत्त्व तब आता है जब माता वाला सम्बन्ध जुड़ता है। कोई भी भूमि तब तक देश नहीं कहला सकती, जब तक कि उसमें किसी जाति का मातृक ममत्त्व याने ऐसा ममत्व जैसा पुत्र का माता के प्रति होता है, न हो। यही देशभक्ति है। तथापि देशभक्ति का मतलब जमीन के टुकड़े के साथ प्रेम होना मात्र नहीं है। अन्यथा कई पशु-पक्षी भी तो अपने घर से बहुत प्रेम करते हैं। सांप अपना बिल नहीं छोड़ता, शेर मांद में ही निवास करता है, पक्षी अपने घोंसले में रोज लौट आते हैं। किन्तु ये देशभक्त हैं, ऐसा नहीं कहा जाता। मानव भी जहाँ रहता है, वहां से उसका कुछ न कुछ लगाव हो ही जाता है। फिर भी इतने मात्र से देशभक्ति नहीं आती। उन लोगों का प्रेम ही देशभक्ति कही जावेगी जो देश में एक जन के नाते सम्बद्ध हैं। पुत्र रूप एक जन और माता रूप भूमि के मिलन से ही देश की सृष्टि होती है। यही देशभक्ति है जो अमर है। इसका सबसे ताजा उदाहरण हमारे सामने इजरायल का है। इजरायल का पहले भी 'जन' और भूमिखण्ड, पेलेस्टाइन था। पेलेस्टाइन के साथ उनका सम्बन्ध मातृत्व का था। परन्तु वे पेलेस्टाइन में थे नहीं। दुनियाँ भर में खानाबदोश के समान घूमते थे। वे जर्मनी, फ्रान्स, इंग्लैण्ड में रहे। उन्होंने बड़े-बड़े काम भी किये किन्तु सदा अपनी भूमि के लिए तड़पते रहे। माता के लिए जैसा पुत्र तड़प सकता है, वैसे ही वे वर्षो रहे। इतने वर्षों तक वे अपने राष्ट्रत्व को जीवित रख सके और आज अपनी मातृभूमि में पहुँच गये। एक जन की मातृभूमि के प्रति यह चेतना ही वह वस्तु है जो अक्षय शक्ति प्रदान करती है।

अस्तु, राष्ट्र का स्वरूप इस 'एक-जन' की सामूहिक मूलप्रकृति द्वारा निर्धारित होता है। यही 'चिति' है। काल और परिस्थिति के अनुसार बाहरी ढाँचे में चाहे जो परिवर्तन होते रहें किन्तु राष्ट्र की मूल प्रकृति नहीं बदलती। जिन सिद्धान्तों को चरितार्थ करने के लिए राष्ट्र का आविर्भाव हुआ है उनका पालन होते रहने तक 'चिति' विद्यमान रहती है। राष्ट्र में चैतन्य बना रहता है। राष्ट्र बड़े से बड़ा त्याग

करने को उद्यत रहता है। गंभीर से गंभीर संकट में भी विजयी होकर आगे बढ़ता है। जिस प्रकार व्यक्ति–जीवन में बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक अनेक परिवर्तन होते हैं, कई प्रकार के सुख–दुःख, सम्पत्ति–विपत्ति, उन्नति–अवनति के क्षण आते हैं, फिर भी व्यक्ति अपनी अस्मिता को जाग्रत रख अपनी जीवनयात्रा पूर्ण करता है और सदा अपनी अस्मिता के आधार पर अच्छी–बुरी, ग्राह्य–अग्राह्य, मान्य–अमान्य का निर्णय करता हुआ प्रत्येक अच्छे–बुरे प्रसंग एवं वस्तु का ठीक–ठीक उपयोग करता है, इसी प्रकार 'एक–जन' रूपी यह राष्ट्र मातृभूमि के प्रति एकान्तिक निष्ठा के साथ अपनी मूल प्रकृति को याने 'चिति' को जाग्रत रखता हुआ समर्थ, स्वावलम्बी, कार्यक्षम, विजयी और सर्वकाल नवोन्मेषकारी शक्ति से युक्त जीवित रहता है।

यह 'चिति' जनसमूह के प्रत्येक व्यक्ति में मातृभूमि के प्रति परमसुख की भावना रूप से रहती है। वह सर्वोत्कृष्ट सुख जिसके समक्ष अन्य सब बातें फीकी लगें, इस 'चिति' द्वारा स्थापित होता है। इसकी झलक व्यक्ति के सब प्रकार के कार्यों में दिखाई पड़ती है। उसके समस्त व्यापार, निःशेष चेष्टाएँ अखिल कर्म इसी 'चिति' के प्रकाश में चैतन्य रहते हैं। जब तक 'चिति' जागृत और निरामय रहती है तब तक राष्ट्र का अभ्युदय होता रहता है। इसी चेतना के आधार पर राष्ट्र संगठित होता है। 'चिति' से जागृत और एकीभूत हुई समष्टि की प्राकृतिक क्षात्र शक्ति अर्थात् अनिष्टों से रक्षा करने वाली शक्ति 'विराट्' कही जाती है। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। सामूहिक जीवन जीने के लिए उसे सहानुभूति का भाव प्रकृति से प्राप्त होता है। यह सहानुभूतियुक्त तेज ही व्यक्ति को समाज के हितार्थ आत्मत्याग के लिए प्रेरित करता है। परस्पर सहानुभूति की यह भावना समष्टि की रक्षा के लिए व्यक्तिगत शक्ति को न्यूनाधिक रूप से एकीभूत कर केन्द्रस्थ करती है। यही विराट् है, जो चिति के प्रकाश से जागृत होती है और हम कहते हैं कि राष्ट्र जाग उठा है। विराट् राष्ट्र का प्राण है तो चिति आत्मा है।

'चिति' के प्रकाश से जागृत एक–जन की सगठित कार्यशक्ति 'विराट्' से संचालित जीवन मातृभूमि की आराधना में इहलौकिक तथा पारलौकिक सभी प्रकार के ऐश्वर्य की प्राप्ति करता हुआ विश्व में अजेय बनकर खड़ा होता है। यही राष्ट्र के सम्बन्ध में चिरन्तन सत्य सिद्धान्त है और इसी सत्य का प्रकटीकरण भारत में हिन्दू राष्ट्र है।

६

सेक्यूलर : अर्थ-अनर्थ

सेक्यूलर : अर्थ-अनर्थ

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष को एक 'सेक्यूलर स्टेट' घोषित किया गया है। तथा तब से यह शब्द लोगों की जबान पर इतना चढ़ गया है कि क्या बड़े–बड़े नेता और क्या गाँव–गाँव, गली–गली में बातचीत के स्वर को ऊँचा करके ही भाषण की हवस मिटाने वाले छुटभैये, सभी दिन में चार बार 'सेक्यूलर स्टेट' की दुहाई देकर अपनी बात मनवाने का तथा दूसरों को उसके विरुद्ध बताकर गलत सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। सुनते–सुनते शब्द तो कानों में रह गया है, किन्तु अभी तक यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि भारत सरकार, बोलने वाले नेता तथा सुनने वाली जनता 'सेक्यूलर' शब्द का क्या अर्थ समझती है। विधान परिषद् में 'सेक्यूलर स्टेट' का नाम लेने पर जब एक सदस्य ने पं. जवाहरलाल नेहरू से 'सेक्यूलर स्टेट' का मतलब पूछा तो उन्होंने भी अर्थ बताने के स्थान पर सम्माननीय सदस्य को डाँटकर कोष देखने के लिए कहा। फलतः समस्या सुलझ नहीं पाई और आज भी लोग सेक्यूलर शब्द के भिन्न–भिन्न अर्थ लगाते हैं। सेक्यूलर के लिए भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त पर्यायों से यह भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। लौकिक, धर्महीन, धर्म रहित, धर्मनिरपेक्ष, अधार्मिक, अधर्मी, निधर्मी असाम्प्रदायिक आदि अनेक शब्दों का सेक्यूलर के पर्याय रूप में प्रयोग होता है। निश्चित ही उपर्युक्त सभी शब्द समानार्थक नहीं हैं। उनमें मतभिन्नता ही नहीं अपितु वे विरोध की सीमारेखा को भी स्पर्श कर जाते हैं। राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में इतना वैमनस्य वास्तव में हितावह नहीं है। अच्छा हो कि हम सेक्यूलर शब्द का ठीक अर्थ समझ लें, कम से कम जिस अर्थ में हम भारत को सेक्यूलर स्टेट बनाना चाहते हैं, उसका निर्णय कर ही लेना चाहिए।

नेहरू जी के आदेशानुसार यदि डिक्शनरी का सहारा लिया जाय तो समस्या विशेष नहीं सुलझती, क्योंकि कोष में सेक्यूलर के अर्थ हैं 'लास्टिंग फार एजेज, कमिंग वन्स इन ए सेन्चुरी : वर्ल्डली, टेम्पोरल' अर्थात् सौ वर्षों में एक बार होने वाला, लौकिक। इनमें से 'लौकिक' अर्थ सर्वसाधारण व्यवहार में आता है तथा

'स्पिरिचुअल' के विरोध में इसका प्रयोग होता है। सेक्यूलर स्टेट की कल्पना के विकास के पीछे भी वही भाव है। क्योंकि सेक्यूलर स्टेट की कल्पना का उदय पवित्र रोमन साम्राज्य 'होली रोमन एम्पायर' के विरोध में हुआ है। यूरोप में सभी देश किसी समय रोम के पोप के अधीन थे तथा प्रत्येक देश का राजा पोप के नाम पर ही शासन करता था। किन्तु धीरे–धीरे रोमन, कैथोलिक मत और पोप दोनों, या इनमें से किसी एक के प्रति अविश्वास और विरोध की भावना बढ़ने लगी। फलतः प्रोटेस्टेंट मत का जन्म हुआ तथा फ्रांस की क्रांति के कारण और उसके परिणामस्वरूप जनता के घोष "समानता", "स्वतन्त्रता" और "बन्धुत्व" हुए। साथ ही राष्ट्रीयता के बढ़ते हुए एवं ईसाई मत के अनेक चर्चों की स्थापना तथा ईसाई मत के सामान्य जीवन पर घटते हुए प्रभाव ने पवित्र रोमन साम्राज्य को विघटित करके, ऐसे राज्य की कल्पना को जन्म दिया जिसमें सभी मतों के मानने वाले नागरिकता के समान अधिकारों का उपभोग कर सकें तथा राज्य की जनता के मत अथवा रिलीजन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। लोगों की दृष्टि अधिकाधिक भौतिकवादी होने के कारण लोगों की दृष्टि में राज्य का महत्व केवल लौकिक आवश्यकताओं की पूर्तिमात्र के लिए रह गया तथा आत्मा सम्बन्धी सभी प्रश्नों को व्यक्तिगत इच्छा–अनिच्छा पर छोड़ देना ही उचित समझा गया।

यूरोप में 'सेक्यूलर स्टेट' की कल्पना के विकास का संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया है। स्पिरिचुअल और टेम्पोरल (सेक्यूलर) दो भिन्न–भिन्न क्षेत्र करके राज्य की ओर केवल सेक्यूलर आवश्यकताओं की पूर्ति का भार देकर भी यूरोप का कोई राज्य मत विशेष के पक्षपात की नीति से मुक्त नहीं हो पाया है। इंग्लैण्ड का राजा अब भी 'डिफेण्डर आफ दि फेथ' (धर्मरक्षक) कहा जाता है तथा उसके लिए आवश्यक है कि वह चर्च आफ इंग्लैण्ड का मानने वाला प्रोटेस्टेंट हो। राज्य की ओर से गिरजे और पादरियों को वेतन और सहायता भी मिलती है। अमेरिका में भी प्रेसीडेंट के लिए शपथ लेते समय धार्मिक विधि को पूरा करना आवश्यक है।

भारतवर्ष में वास्तविक रूप से तो राज्य की कल्पना के अन्तर्गत लौकिक राज्य की ही कल्पना है। हमारे यहाँ धर्मगुरु को कभी राजा का स्थान नहीं मिला है। राजा स्वयं किसी भी मत को मानने वाला क्यों न हो, सदा सभी मतावलम्बियों के प्रति न्याय और समानता का व्यवहार करता था। हाँ, आज के सेक्यूलरिज्म की कल्पना के अनुसार पक्षपातरहित रहने का अर्थ किसी की मदद करना नहीं था। अतः राज्य सब मतावलम्बियों को समान रूप से सहायता करता था। इस सहायता के पीछे यह भाव निहित था कि प्रथम तो, बिना पारलौकिक उन्नति के लौकिक उन्नति व्यर्थ है तथा दूसरे, राजा का कर्तव्य है कि प्रजा की सब प्रकार की उन्नति का प्रबन्ध करे। पारलौकिक क्षेत्र में यह प्रबन्ध सब मतों को समान सहायता देते हुए

उनके आपसी सम्बन्धों को सद्भावनापूर्ण बनाते हुए ही होता था। अतः किसी मत का राज्य न कायम करते हुए भी **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** की व्याख्या के अनुसार धर्म का विकास करते हुए धर्म–राज्य की अवश्य ही स्थापना की जाती थी।

आज भारतवर्ष के नेतागण यद्यपि पश्चिमी आदर्शों को अपनाकर भावी भारत की रचना करना चाहते हैं। उसके अनुसार पश्चिम के अर्थ में, सेक्यूलर स्टेट का अर्थ लौकिक राज्य ही लगाया जा सकता है, किन्तु भारतीय जनता धर्म–राज्य या राम–राज्य की भूखी है और वह केवल लौकिक उन्नति में ही संतोष नहीं कर सकती। भारतीयता की स्थापना भी केवल एकांगी उन्नति से नहीं हो सकती क्योंकि हमने लौकिक और पारलौकिक उन्नति को एक दूसरे का पूरक ही नहीं तो एक दूसरे से अभिन्न माना है। किन्तु पारलौकिक उन्नति के क्षेत्र में राज्य की ओर से किसी एक मत की कल्पना अनुचित होगी अतः उसके द्वारा ऐसा वातावरण उत्पन्न करना होगा कि जिसमें सभी मत बढ़ सकें तथा **'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति'** के सिद्धान्त का पालन कर सकें।

फलतः हमारे राज्य के लिए 'लौकिक राज्य' 'सेक्यूलर स्टेट' का ठीक पर्याय होने पर भी मौजू नहीं होगा। धर्म शब्द की उपर्युक्त परिभाषा एवं **'धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः'** आदि परिभाषाओं के अनुसार यह शब्द अंग्रेजी के रिलीजन का पर्यायवाची न होकर उससे भिन्न है तथा व्यापक अर्थ वाला है। हमारे यहाँ बिना धर्म के तो किसी के भाव की, उसके अस्तित्व की ही कल्पना कठिन है। फलतः हम समझते हैं कि हमारा राज्य धर्म को तिलांजलि नहीं दे सकता, अतः अधार्मिक, धर्मनिरपेक्ष, धर्मरहित, धर्महीन धर्मविरत आदि सभी शब्द न तो हमारे राज्य के आदर्श को ही प्रकट करते हैं और न सेक्यूलर स्टेट के ठीक पर्याय हो सकते हैं।

अंग्रेजी रिलीजन शब्द का पर्यायवाची शब्द हमारे यहाँ 'मत' है तथा मत के मानने वाले को सम्प्रदाय कहा जाता है, जैसे शैव सम्प्रदाय, वैष्णव सम्प्रदाय, ख्रिस्ती सम्प्रदाय आदि। निश्चित ही पहले भी और आज भी राज्य इनमें से किसी एक सम्प्रदाय का नहीं हो सकता। राज्य की दृष्टि तो सबके लिए ही समान होनी चाहिए। फलतः हम कह सकते हैं कि राज्य को साम्प्रदायिक न होकर असाम्प्रदायिक होना चाहिए। यही राज्य का सही आदर्श है। ऐसा राज्य किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रति पक्षपात या किसी के प्रति घृणा का व्यवहार न करते हुए भी जीवन की लौकिक और आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करते हुए धर्मराज्य हो सकता है।

'असाम्प्रदायिक' शब्द से राज्य के ठीक–ठीक आदर्श का ही बोध नहीं होता अपितु 'सेक्यूलर' के शब्दिक नहीं तो पाश्चात्य व्यावहारिक अर्थ के भी यह बहुत निकट है। रूस को छोड़कर किसी राज्य ने कभी रिलीजन (मत) को समाप्त नहीं

किया और आज तो रूस ने भी पूजा स्वातंत्र्य को मान लिया है यद्यपि राज्य की ओर से वहाँ किसी को कोई सुविधा नहीं मिलेगी। शेष सभी राज्यों में सभी सम्प्रदायों को अपने मत के द्वारा आत्मिक, शारीरिक स्वतंत्रता है, तथा इंग्लैण्ड के राजा को छोड़कर शेष किसी में सम्प्रदाय विशेष के प्रति पक्षपात नहीं है। अतः उन राज्यों को भी पवित्र रोमन राज्य के साम्राज्य के विरोध में चाहे लौकिक समझा जाय, किन्तु असांप्रदायिक कहना ही अधिक युक्तिसंगत होगा। असाम्प्रदायिक शब्द के द्वारा हमारे नेताओं का अर्थ भी अधिक स्पष्ट होता है क्योंकि आज सेक्यूलर शब्द का प्रयोग केवल पाकिस्तान से, जिसने अपने को इस्लामी राज्य घोषित किया है, भिन्नता दिखाना ही है। भारत इस्लामी राज्य के समान कि एक सम्प्रदाय का राज्य नहीं है, यही हमारे नेता प्रकट करना चाहते हैं और इसके लिए उन्होंने 'सेक्यूलर' शब्द चुना है। आज यद्यपि साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय शब्दों का ठीक–ठीक ज्ञान न होने के कारण सेक्यूलर शब्द का नाम लेकर रेडियो से गीता और रामायण आदि का पाठ बन्द करना आदि अनेक कार्य कर दिये जाते हैं। फिर भी भारतीय राज्य का आदर्श घोषित करते समय हमारे नेताओं के मस्तिष्क में जो प्रधान धारणा रही वह 'असाम्प्रदायिक' शब्द से ही अधिक व्यक्त होती है।

उपर्युक्त सभी कारणों से 'असाम्प्रदायिक' शब्द ही 'सेक्यूलर' का निकटतम भाषान्तर है और उसी का प्रयोग किया जाना चाहिए।

☆

७

राष्ट्र : प्रकृति और विकृति

राष्ट्र : प्रकृति और विकृति

अपने राष्ट्र–जीवन की प्रकृति, विकृति और संस्कृति पर विचार करने से पूर्व इन तीनों शब्दों के अर्थ समझना आवश्यक है। हम पहले प्रकृति का विचार करें। प्रकृति वह गुण है जिसको लेकर कोई जीवमान वस्तु पैदा होती है। निर्जीव वस्तुओं की भी प्रकृति होती है। पर उसका विचार करना यहाँ अभीष्ट नहीं। हम लोग पूर्व–जन्म में विश्वास रखते हैं। इस जन्म में हमें जो प्रकृति प्राप्त होती है, वह हमारे पूर्व–जन्म के संचित कर्मों का परिणाम है। यह हमारी मूल प्रकृति होती है। इसमें परिवर्तन नहीं होता। बाहरी वातावरण तथा समाज की परिस्थितियाँ प्रकृति को प्रभावित अवश्य करती हैं, पर आमूल परिवर्तन नहीं कर सकतीं।

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी स्वतंत्र प्रकृति होती है। वह अपनी प्रकृति के अनुरूप विकास करके ही जीवन में उन्नति कर सकता है। यदि किसी व्यक्ति में साहित्यिक प्रतिभा हो, तो वह एक सफल कवि या साहित्यकार हो सकता है, इंजीनियर या वैज्ञानिक नहीं। इसी प्रकार शिल्प अथवा विज्ञान में अभिरुचि रखने वाला सफल साहित्यकार नहीं बनता। इसीलिए कहा भी जाता है कि कवि जन्मजात होते हैं, बनाये नहीं जाते।

जैसे प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति भिन्न होती है वैसे ही प्रत्येक राष्ट्र की प्रकृति भी भिन्न होती है। भारत की भी अपनी एक प्रकृति है। हमारे इतिहास का अध्ययन करने से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि हमारे यहाँ सम्राटों या लक्ष्मी–पुत्रों की तुलना में ऋषि–महर्षियों को अधिक महत्व दिया गया। बड़े–बड़े राजा भी इन महर्षियों के सम्मुख नतमस्तक होते थे। हमारे राष्ट्र की मूल प्रकृति अध्यात्म–प्रधान रही है। हम भौतिक समृद्धि के आकर्षक नारों की ओट में इसे बदल नहीं सकते। यदि हमने अपनी मूल प्रकृति की अवहेलना करने की चेष्टा की तो हमारे राष्ट्र–जीवन में अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न होंगी। हमने भौतिकता का विचार नहीं किया, ऐसी बात नहीं है। हमारे यहाँ अतीत काल में अनन्त भौतिक समृद्धि थी। इसी समृद्धि से आकृष्ट होकर विदेशी आक्रमणकारी यहाँ आये। हमने भौतिकता को

दुर्लक्ष्य नहीं किया, पर हमारी वृत्तियाँ धर्म, आध्यात्मिकता या परमात्म चिंतन में ही अधिक रमती रहीं। दुर्भाग्य से आज हमारा राष्ट्र–जीवन अपनी मूल प्रकृति से हटता जा रहा है। हम एकांगी भौतिक प्रगति की दौड़ में अग्रसरत्व प्राप्त करने के लिए व्यग्र दिखाई पड़ते हैं। परिणामस्वरूप संकीर्ण प्रादेशिकता, जातीयता, भाषावाद आदि अनेक रूपों में हमारे राष्ट्र–जीवन में विकृतियाँ आ रही हैं। हमारे राष्ट्र का इतिहास ऋषि–मुनियों की साधना का, तपश्चर्या का एवं त्यागमय–जीवन का इतिहास है। विश्वविजय की कामना लेकर आने वाले सिकन्दर की पराजय का इतिवृत्त हमारे पुराणों में कहीं नहीं मिलता। राजा जनक, हरिश्चन्द्र, शिवि या युधिष्ठिर जैसे आदर्श राजाओं का ही वर्णन उपलब्ध है।

अपने राष्ट्र–जीवन का विचार करने से पूर्व राष्ट्र शब्द पर कुछ विचार करना समीचीन होगा। राष्ट्र शब्द की शास्त्रीय व्याख्या में हम न जायें तो भी इतना तो मानना ही होगा कि राष्ट्र बनाने के लिए एक भूमि विशेष में रहने वाले लोगों के ह्रदय में उसके प्रति अविचल श्रद्धा का भाव होना आवश्यक है। राष्ट्र केवल मात्र नदियों, पहाड़ों, मैदानों कंकड़ों के ढेर से नहीं बनता। यह केवल भौतिक इकाई नहीं। इसके लिए देश में रहने वाले लोगों के ह्रदयों में उसके प्रति असीम श्रद्धा की अनुभूति होना प्रथम आवश्यकता है। इसी श्रद्धा की भावना के कारण हम अपने देश को मातृभूमि कहते हैं।

मातृभूमि के प्रति श्रद्धा का कुछ आधार होता है। अनेक वर्षों तक एक देश में रहने के कारण एक साहचर्य एवं आत्मीयता के भाव का जन्म होता है। धीरे–धीरे राष्ट्र का एक इतिहास बनता है। कुछ बातें राष्ट्रीय गौरव की और कुछ लज्जा का कारण बनती हैं। गौरव की बातों का स्मरण कर हम गौरवान्वित होते हैं और लज्जा की बातों को याद कर लज्जित होते हैं। मोहम्मद गोरी या महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया, इस घटना का हम विचार करते हैं, तो हमारे मन में स्वभावतः एक आक्रोश उत्पन्न होता है। हमारी आत्मीयता पृथ्वीराज तथा इस देश के अन्य देशभक्तों के प्रति होती है। यदि किसी की आत्मीयता अपने देश के प्रति न होकर परकीय आक्रमणकारियों के प्रति हो तो यह मानना होगा कि उस व्यक्ति में राष्ट्रीयता का भाव नहीं है। जब हम महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी या गुरुगोविन्द सिंह का स्मरण करते हैं तो हमारा मन उनके प्रति आदर और श्रद्धा से झुक जाता है। इसके विपरीत जब हम औरंगजेब, अलाउद्दीन, क्लाइव या डलहौजी का नाम याद करते हैं तो इनके प्रति एक विदेशी आक्रान्ता के प्रति जो भाव उत्पन्न होना चाहिए वही भाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार एक भूमि विशेष में रहने वाले लोगों का जिनके ह्रदय में मातृभूमि के प्रति असंदिग्ध श्रद्धा का भाव हो, जिनके जीवनादर्शों में साम्य हो, जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टि हो, शत्रु–मित्र समान हों, ऐतिहासिक

महापुरुष एक हों, एक राष्ट्र निर्माण होता है।

हमारे राष्ट्र–जीवन का प्रवाह हजारों वर्षों से चल रहा है। इसमें अनेक प्रकार की विविधता की धाराएँ आकर मिली हैं। जैसे गंगा में अनेक छोटे–मोटे नद–नाले आकर मिलते हैं, पर वे मिलने के बाद गंगा के अखण्ड प्रवाह में आत्मसात् हो जाते हैं, वैसे ही हमारे राष्ट्र–जीवन प्रवाह में भी शक–हूण आदि अनेक जातियाँ आकर मिली हैं, और एकरस हो चुकी हैं। यदि कोई जाति इस मूल जीवन–प्रवाह से पृथक् रहने की चेष्टा करती है तो उससे विकृति का जन्म होगा जो आन्तरिक कलह का कारण बनेगा।

हमारा राष्ट्र–जीवन एक विस्तृत भू–प्रदेश पर परिव्याप्त है। इसमें अनेक विधि विविधताएँ हैं। यह विविधता स्वाभाविक है। इससे हमारे जीवन में सौन्दर्य का भाव परिपुष्ट होता है। जैसे विविध प्रकार के फूलों के द्वारा भी एक सुन्दर माला गूँथी जा सकती है, वैसे ही विविधताओं का एक विशिष्ट माध्यम के द्वारा समन्वय स्थापित किया जा सकता है। जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि ही वह समन्वय का माध्यम है। पर यह समन्वय समान प्रकृति की वस्तुओं में ही हो सकता है। विकृति के साथ यह समन्वय नहीं हो सकता। विविध प्रकार के अन्नों से मिलकर खिचड़ी बन सकती है, पर उसमें कंकड़ मिलाने से विकृति उत्पन्न हो जायेगी। शरीर में फोड़ा हो जाने पर उसका आपरेशन करना पड़ता है, उसके साथ समझौता करने का अर्थ स्वयं को विकारयुक्त या अस्वस्थ बनाना होगा। राष्ट्र के जीवन में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। हमारी भाषाएँ भिन्न हो सकती हैं, उपासना पद्धति भिन्न हो सकती है, वेश–भूषा से अन्तर हो सकता है, खान–पान में भिन्नता हो सकती है, पर इन सब प्रकार की विविधताओं में भी समन्वय स्थापित किया जा सकता है। यदि हमारे अन्तःकरण में मातृभूमि के प्रति अडिग श्रद्धा है, यदि हमारी ह्रदतंत्री कुछ समान आदर्शों एवं जीवन–मूल्यों से झंकृत होती है तो समन्वय प्रस्थापित करना कोई कठिन बात नहीं। यदि श्रद्धा का यह भाव नहीं है सब भिन्नताएँ विघटन को ही जन्म देंगी।

समन्वय के भाव को परिपुष्ट बनाने के लिए सहिष्णुता का होना आवश्यक है। सहिष्णुता भारतीय संस्कृति की बहुत बड़ी विशेषता है। इसी विशेषता के कारण यहाँ अनेक समुदाय चले। कोई शिव की उपासना करे या विष्णु की, शक्ति की आराधना करे या गणपति की, इससे कोई संघर्ष नहीं हुआ।

योरोपीय देशों में जैसा रक्तिम संघर्ष धर्म के नाम पर हुआ, वैसा यहाँ नहीं हुआ। हम यह नहीं कहते कि इस पैगम्बर और इस पुस्तक को मानने से तो बहिश्त मिलेगा और नहीं मानने से दोजख। यह मजहबी असहिष्णुता भारत की प्रकृति नहीं। बल–पूर्वक किसी का धर्म परिवर्तन करना हमारी परम्परा नहीं। हमारा

दृष्टिकोण यही रहा कि सब लोग अपनी–अपनी उपासना का पालन करते हुए स्वभाव–प्राप्त कर्त्तव्य आचरित करके सिद्धि को प्राप्त करें। हमने साधक की मनःस्थिति, योग्यता और परिस्थिति का विचार कर उसके लिए सिद्धि–मार्ग का निश्चय किया। जिसमें ज्ञान की प्रखरता है, वह ज्ञान मार्ग का अवलम्बन करके लक्ष्य सिद्धि करे। ज्ञान के समान पवित्र अन्य कुछ नहीं, ऐसा कहकर इस मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया। भावुक हृदयों के लिए भक्तिमार्ग का अनुसरण करना उचित बताया गया। भक्त तर्क से नहीं श्रद्धा से भगवान को पा सकता है। जिसमें कर्म की प्रबलता हो वह निष्काम भाव से कर्मयोगी बने। ज्ञानमार्गी एवं भक्तिमार्गी से भी कर्ममार्गी की विशिष्टता स्वीकार की गयी। ज्ञान, भक्ति एवं कर्म का उचित समन्वय का आदर्श प्रस्थापित किया गया। ज्ञानरहित भक्ति ढोंग है, कर्मरहित ज्ञान व्यर्थ है, भक्तिरहित कर्म नीरस होता है और ज्ञानरहित कर्म अन्धा होता है। इस प्रकार भक्ति–समन्वित ज्ञानयुक्त निष्काम कर्म ही हमारा आदर्श है। भारतीय चिन्तन का यह सार न केवल त्रिकालावाधित है वरन् सार्वलौकिक भी है। विश्व के समस्त मानव समुदाय को श्रेष्ठ लाभप्रद है। इसकी आराधना भारतवासियों की विशेषता है। सद्गुण–सम्पन्न और पूर्ण समर्पित विकसित जीवन का यह सार भारत में प्रकट हुआ।

कुछ लोग मानवता का विचार सबसे पहले करने की बात करते हैं। उनकी दृष्टि में एक देश या राष्ट्र का विचार करना संकीर्णता है। पर यह दृष्टिकोण शुद्ध नहीं। देश–भक्ति और मानवता की सेवा में कहीं कोई विरोध नहीं। मानवता की सेवा करने के लिए देशभक्ति प्रथम सोपान है। जिसे अपनी जननी और जन्मभूमि के प्रति ही प्रेम नहीं वह मानवता की क्या सेवा करेगा? जो व्यक्ति नारीमात्र को माता के रूप में मानकर सबकी सेवा करने का प्रयत्न करे, पर अपनी माँ की सेवा को संकीर्णता कहे तो उसे क्या कहा जाये? सबकी सेवा करते हुए भी अपनी माँ तो अपनी माँ ही रहेगी। माता का जो स्वाभाविक स्नेह अपनी सन्तान के प्रति होगा वैसा अन्य किसी स्त्री की सन्तान के प्रति नहीं हो सकता। जो व्यक्ति अपनी माँ को संकटापन्न अवस्था में देखकर भी दूसरों की माताओं की सेवा करता फिरे वह चाहे कितने ही ऊँचे आदर्शवाद से अनुप्रेरित क्यों न हो व्यावहारिकता के तो प्रतिकूल ही माना जायेगा। अपनी माँ चाहे कुरूप हो या सुन्दर इसका विचार नहीं किया जाता? यह अपनी माँ है, इसी नाते वह वन्दनीय है, आदरणीय है और अभिनन्दनीय है। इसमें माँ की अथवा उसके किसी अंग की उपयोगिता का हिसाब लगाकर कोई विचार नहीं होता। यदि माँ के स्वाभिमान को चोट पहुँचती है तो उसका पुत्र माँ के किसी अंग की उपयोगिता का विचार कर उसके स्वाभिमान को चोट पहुँचाने के निमित्त को दूर नहीं करता। माँ के अंगों की उपयोगिता और अनुपयोगिता का

विचार ही मातृभक्ति की भावना के विपरीत है। हमारे प्रधानमंत्री का यह कथन कि चीन ने जिस भूमि पर अधिकार कर लिया है, वह बंजर है, जनशून्य है, वहाँ घास भी नहीं उगती, अतः उसके लिए संघर्ष नहीं किया जा सकता, मातृभक्ति की भावना के प्रतिकूल है। हमने भारत को माता के रूप में माना है। इसका कण–कण हमारे लिए पवित्र है। इसके कण–कण में पावित्र्य की शक्ति छिपी हुई है। स्वामी विवेकानन्द जब विश्व भर में भारतीय धर्म, संस्कृति एवं दर्शन की विजय–वैजयन्ती फहराकर भारत में लौटे तो वे मद्रास में भूमि पर उतरते ही स्वदेश की रेत–मिट्टी में लोट–पोट गये। एक वेदान्ती के इस प्रकार भाव–विह्वल आचरण से सभी चकित हुए। बाद में उपस्थित जनता के आश्चर्य का शमन करने के लिए उन्होंने कहा– मैं काफी समय से विदेशों में प्रवास पर था, इस अवधि में अनेक प्रकार के लोगों के संसर्ग में आया, अनेक देशों में घूमा, उससे सम्भव है मेरे शरीर में कुछ विकृति आई हो, मैं उन सब विकृतियों को दूर कर रहा हूँ।

कितनी श्रद्धा थी उनके हृदय में भारत के प्रति। हम जरा इंग्लैण्ड का उदाहरण लें। वहाँ सूर्य के दर्शन भी वर्ष में १०–२० बार से अधिक नहीं होते। लोग सर्दी के कारण ठिठुरते रहते हैं। इतना अन्न भी उत्पन्न नहीं होता कि वे अपना पेट भर सकें। उन्हें अन्न के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है, फिर भी किसी अंग्रेज से पूछो, तुम्हें दुनियां का कौन सा देश सर्वाधिक प्रिय है, वह बिना रुके उत्तर देगा, "इंग्लैण्ड मुझे सर्वाधिक प्रिय है।" एक अंग्रेज कवि ने भी जब यह कहा कि 'England ; with all thy faults I love thee.' तो उसने इसी भाव को प्रकट किया है।

दुर्भाग्य से हमारे राष्ट्रीय जीवन में मातृभक्ति के अभाव के कारण अनेक विकृतियाँ आई हैं। पाकिस्तान का निर्माण उसी विकृति का गहरा उदाहरण है। मुसलमानों का यह दृष्टिकोण कि 'मुसलमानों के अलग राज्य की भूमि ही केवल पाक है और शेष नापाक' राष्ट्रभक्ति के गहरे अभाव का ही सूचक है। स्वातंत्र्य–पूर्व काल में इस विकृति को दूर नहीं किया गया। इसीलिए भारत माता का अंग काटकर पाकिस्तान बना दिया। भारत स्वतंत्र होने के बाद भी दुर्भाग्य से राष्ट्रभक्ति की शुद्ध भावना का जागरण नहीं किया गया। पृथक् नागालैण्ड का निर्माण इसी का फल है। नागाओं के साथ शांतिपूर्वक वार्ता के प्रति समाधान व्यक्त करते हुए हमारे प्रधानमंत्री ने कहा था, "नागाओं को भारतीय संघ का सहभागी बना लिया गया है।" इस उक्ति में क्या यह भाव नहीं छिपा है कि इसके पहले नागा सहभागी नहीं थे। नागालैण्ड को संसद् की स्वीकृति मिली कि असम के पहाड़ी इलाकों में भिन्न–भिन्न पहाड़ी राज्यों की मांग जोर पकड़ने लगी। चीन ने हजारों वर्गमील भूमि पर कब्जा कर लिया। इस तथ्य की ओर दुर्लक्ष्य कर देश के कुछ लोग बहुत समय तक यह

निर्णय न कर पाये कि चीन ने आक्रमण किया है या नहीं। यह सब दुरवस्था सच्ची मातृभक्ति के अभाव के ही कारण है।

इन विकृतियों को दूर करने का उपाय हमारी संस्कृति के पास है। हमारी संस्कृति का आधार भोग नहीं अपितु त्याग रहा। त्याग से ही अमृत्व की प्राप्ति होती है। भगवान राम ने लंका को जीतकर उसका राज्य विभीषण को दे दिया। उन्हें स्वर्णमयी लंका की तुलना में अपनी मातृभूमि अयोध्या ही अधिक पसन्द आई, क्योंकि जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर होती है। छत्रपति शिवाजी ने जयसिंह को लिखा कि तुम मुगलों का साथ छोड़ दो, फिर यह सारा राज्य तुम करो। मुझे राज्य की भूख नहीं है। भरत ने भगवान राम की पादुकाओं को राज्य सिंहासन पर विराजमान कर स्वयं नन्दी ग्राम में तपस्वी के रूप में जीवन–यापन करते हुए राज्य कार्य का संचालन किया। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के लिए एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, पर स्वयं निस्पृह कर्मयोगी की भांति राज्य से निरासक्त रहे। आज हमारे राजनीतिक जीवन में जो विकृतियाँ दिखाई दे रही हैं, वे असक्ति के कारण उत्पन्न हुई हैं। सेवा का स्थान अधिकार ने ले लिया है। जीवन के प्रति अतिशय अर्थवादी दृष्टिकोण के कारण भी अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हुई हैं। मानवीय भावनाओं एवं जीवन–मूल्यों का हमारे लिए कोई महत्व नहीं रहा। व्यक्ति की प्रतिष्ठा का आधार उसका चरित्र नहीं, उसकी योग्यता नहीं, उसके गुण नहीं रहे। पैसा ही प्रतिष्ठा का आधार बन गया है। यह स्थिति विकृतिमूलक है। हमें यह मानकर चलना होगा कि अर्थ हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधनमात्र है, साध्य नहीं। अस्तु, जीवन के प्रति दृष्टिकोण को बदलना होगा। दृष्टिकोण का यह परिवर्तन भारतीय संस्कृति के आदर्शों के आधार पर ही हो सकता है। इस गौरवमयी संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठापना से ही राष्ट्र–जीवन में चतुर्दिक् परिव्याप्त विकृतियों का शमन एवं निराकरण हो सकता है।

☆

८

लोकमत - परिष्कार

लोकमत-परिष्कार

राज्य के पुनर्गठन के प्रश्न पर जब देश में विभिन्न मांगों को लेकर, लोगों की भावनाएँ बड़ी उग्र होती जा रही थीं, प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू से एक शिष्टमण्डल मिला। शिष्टमण्डल के एक सदस्य ने पंडित जी से निवेदन किया कि दिल्ली में विधानसभा को समाप्त करने के उसके निर्णय से जनता बहुत प्रसन्न है, अतः वह उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन न करें। नेहरूजी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया– 'जो लोग विधानसभा को बनाए रखने की मांग लेकर आते हैं, वे भी जनता के नाम पर ही बातें करते हैं। जनता की इच्छा कौन–सी समझी जाय?' पंडित जी ने जो प्रश्न उपस्थित किया वह लोकराज्य के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है, कारण लोकतंत्र में राज्य जनता की इच्छा के अनुसार चलता है। किन्तु किन्ही दो व्यक्तियों की इच्छाएँ एक–सी नहीं हो सकतीं। फिर जहाँ करोड़ों मानवों का प्रश्न हो वहाँ राष्ट्र के सभी जन एक ही इच्छा प्रकट करेंगे यह सामान्यतया सम्भव नहीं। हाँ, युद्ध आदि के समय अवश्य सबकी इच्छाएँ–शत्रु पर विजय प्राप्त करने की, समान हो जाती हैं, किन्तु वहाँ भी नीति के प्रश्न को लेकर अनेक मतभेद हो सकते हैं।

समान लोक–इच्छा वास्तव में एक आवश्यक कल्पना मात्र है। सच तो यह है कि जनतंत्र में किसी की भी इच्छा नहीं चलती, प्रत्येक को एक सामान्य इच्छा के अनुसार अपनी इच्छाओं को ढालना होता है। यदि ऐसा न हो तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं, मान्यताओं और विश्वासों को ही सर्वोपरि मानकर अड़ा रहे तो लोकतंत्र नहीं चल सकेगा। अराजकता, विघटन और अन्त में एकतंत्रीय निरंकुश शासन इस स्थिति के अवश्यम्भावी परिणाम होंगे।

अपनी इच्छाओं के दमन का अर्थ है – दूसरे की बात को मानने की तैयारी। लोकतंत्र की एक व्याख्या यह की गई है कि वह वाद–विवाद के द्वारा चलने वाला राज्य है। 'वादे–वादे जायते तत्त्वबोधः' यह हमारे यहाँ की पुरानी उक्ति है। किन्तु तत्त्वबोध तो तभी हो सकेगा जब हम दूसरे की बात को ध्यानपूर्वक सुनेंगे और उसमें

से जो सत्यांश होगा उसको ग्रहण करने की इच्छा रखेंगे। यदि दूसरे का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न न करते हुए हम अपने ही दृष्टिकोण का आग्रह करते जांय तो 'वादे–वादे जायते कण्ठशोषः' की उक्ति चरितार्थ होगी। वालटेयर ने जब यह कहा कि 'मैं तुम्हारी बात सत्य नहीं मानता किन्तु अपनी बात को कहने के तुम्हारे अधिकार के लिए मैं सम्पूर्ण शक्ति से लड़ूँगा' तो उसने मनुष्य के केवल कण्ठशोष के अधिकार को ही स्वीकार किया। भारतीय संस्कृति इससे आगे बढ़कर वाद–विवाद को 'तत्त्वबोध' के साधन के रूप में देखती है। हमारी मान्यता है कि सत्य एकांगी नहीं होता, विविध कोणों से एक ही सत्य को देखा, परखा और अनुभव किया जा सकता है। इसलिए इन विविधताओं के सामञ्जस्य के द्वारा जो सम्पूर्ण का आकलन करने की शक्ति रखता है, वही तत्वदर्शी है। वही ज्ञाता है।

दृष्टिकोण में इस सामञ्जस्यपूर्ण परिवर्तन के लिए जीवन में संयम की नितांत आवश्यकता है। जो असंयमी है, वह अपनी इच्छाओं पर कभी काबू नहीं पा सकता। उनकी पूर्ति के लिए वह बाकी लोगों की कुछ भी चिन्ता न करता हुआ सब प्रकार से प्रयत्न करेगा। यदि सफल हो गया तो वह अपने क्षेत्र में एकाधिपत्य प्रतिष्ठापित कर लोकतंत्र की हत्या कर देगा। यदि असफल हुआ तो उसके लिए लोकतंत्र रसहीन एवं दुःखदायी हो जायगा। यदि बहुजन समाज लोकराज्य में अपने सुख की अनुभूति न कर सके तो यही कहना होगा कि वहाँ लोकतन्त्र का बेजान ढाँचा मात्र खड़ा है, आत्मा नहीं।

दूसरे की बात सुनना या उसके मत का आदर करना एक बात है और दूसरे के सामने झुकना बिलकुल भिन्न बात। दूसरे की इच्छा के सामने झुकने की तैयारी में एक खतरा सदैव बना रहता है। जो छूछे–सज्जन एवं धर्म–भीरु होते हैं वे तो सदैव अपनी बात का आग्रह छोड़ कर दूसरों की बात मान लेते हैं, किन्तु जो दुर्जन एवं दुराग्रही हैं वे अपनी बात मनवा कर समाज के अगुआ बन जाते हैं और धीरे–धीरे लोकतन्त्र एक विकृत रूप में उपस्थित होकर समाज के लिए कष्टदायक हो जाता है। सम्भवतः, इसी संकट का सामना करने के लिए हमारे यहाँ के शास्त्रकारों ने लोकमत–परिष्कार की व्यवस्था की। जिस समाज में यह परिष्कार का काम चलता रहेगा, वहाँ सहिष्णु एवं संयमशील व्यक्तियों का मण्डल निरन्तर बढ़ता चला जायगा, यहाँ तक कि ऐसे वायुमंडल में इन गुणों से वंचित व्यक्ति कदाचित् ही उपलब्ध हो सके। यदि एकाध अपवाद रहा भी तो वह अपना वर्चस्व नहीं जमा सकेगा।

किन्तु यह लोकमत–परिष्कार का काम कौन करे ? रूस एवं अन्य साम्यवादी देशों में यह काम राज्य के द्वारा किया जाता है। मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार, मजदूरों की क्रान्ति के पश्चात् प्रति–क्रान्ति की संभावना है, उसे रोकने के लिए

क्रठोर उपायों के अवलम्बन की आवश्यकता है। साथ ही अभी तक जीवन के जो मूल्य स्थापित हुए हैं वे पूँजीवादी अर्थव्यवस्था पर आधारित हैं। उन्हें हटाकर नये प्रगतिवादी मूल्यों की प्रतिष्ठापना करनी होगी। यह कार्य लेनिन ने राज्य को, जो कि उसके अनुसार सर्वहारा के प्रतिनिधियों एवं क्रान्तिदर्शी महानुभावों के द्वारा चलाया जाता है, सौंपा। किन्तु उसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ लोकमत परिष्कार के नाम पर व्यक्ति की सभी स्वतंत्रताएँ समाप्त हो गयीं तथा कुछ व्यक्तियों की तानाशाही ही सम्पूर्ण जनता की इच्छा के नाम पर चलने लगी। जो दवा दी गई उससे मर्ज तो ठीक नहीं हुआ, हाँ मरीज अवश्य चल बसे। अर्थात् समस्याएँ दोनों ओर हैं– एक ओर अपरिष्कृत लोकमत, जिसकी दशा कभी सोच–विचार कर निश्चित नहीं होती। शेक्सपियर ने अपने नाटक जूलियस सीजर में उसका बड़ी स्पष्टता के साथ चित्रण किया है। जो जनता ब्रूटस के साथ होकर जूलियस सीजर के वध पर हर्ष मना रही थी, वही थोड़ी देर में एण्टोनियो के भाषण के उपरान्त ब्रूटस का वध करने को उद्यत हो गयी। मॉबोक्रेसी और आटोक्रेसी के दोनों पाटों के बीच से डेमोक्रेसी को जीवित रखना एक कठिन समस्या है।

इसलिए लोकमत–परिष्कार का कार्य वही कर सकता है जो लोकेषणाओं से ऊपर उठ चुका हो। भारत ने इसका समाधान खोज निकाला। भारत ने इस समस्या का समाधान राज्य के हाथ से लोकमत–निर्माण के साधन छीन कर किया है। लोकमत–परिष्कार का कार्य है वीतरागी द्वन्द्वातीत संन्यासियों का। लोकमत के अनुसार चलने का काम है राज्य का। संन्यासी सदैव धर्म के तत्त्वों के अनुसार, जनता के ऐहिक एवं आध्यात्मिक समुत्कर्ष की कामना लेकर अपने वचनों एवं निरीह बाचरण से जन–जीवन के ऊपर संस्कार डालते रहते हैं। उन्हें धर्म की मर्यादाओं का ज्ञान कराते रहते हैं। कोई मोह और लोभ न होने के कारण वे सत्य का उच्चारण सहज कर सकते हैं। लोक–शिक्षा और लोक–संस्कार के वही केन्द्र हैं। शिक्षा और संस्कार से ही समाज के जीवन–मूल्य बनते और सुदृढ़ होते हैं। इन मूल्यों को बांध रखने के बाद लोकेच्छा की नदी कभी अपने तटों का अतिक्रमण कर संकट का कारण नहीं बनेगी।

मर्यादाओं के अन्तर्गत होने वाली क्रिया का नाम ही संयम है। भूखा मरना संयम नहीं, अपितु शरीर की आवश्यकता के अनुसार गुण और मात्रा में भोजन करना संयम है। बिल्कुल न बोलना, यहाँ तक कि अत्याचारी के विरुद्ध आवाज भी न लगाना अथवा किसी को सत्परामर्श भी न देना संयम नहीं। वाचाल और गूँगे के बीच संयमी पुरुष आता है, आवश्यकता पड़ने पर बोलता है और अवश्य बोलता है। अपने व्यवहार का यह नियमन व्यक्ति द्वारा तब हो सकता है जब व्यक्ति को अपने आदर्श की लगन हो तथा अपनी जिम्मेदारी का बराबर भाव हो। असंयम और

गैरजिम्मेदारी साथ-साथ चलते हैं। लोकराज्य तभी सफल हो सकता है जब एक-एक नागरिक अपनी जिम्मेदारी को समझेगा और उसका निर्वाह करने के लिए क्रियाशील रहेगा। समाज जितना यह समझता जायगा कि राज्य को चलाने की जिम्मेदारी उसकी है, उतना ही वह संयमशील बनता जायेगा। जिस दल को लगता है कि आज नहीं, कल हमारे कन्धों पर राज्य-संचालन का भार आ सकता है, वह कभी अपने वादों में और व्यवहार में गैरजिम्मेदारी एवं असंयत नहीं होगा फिर जनता के ऊपर तो राज्य चलाने की जिम्मेदारी सदैव ही रहती है। समय-समय पर वह अपने प्रतिनिधि के रूप में भिन्न दलों को चुन लेती है। वह यदि जिम्मेदार रही तो दल भी संयमशून्य नहीं होंगे।

अतः सबसे अधिक महत्त्व है जनता को सुसंस्कृत करने का, लोकमत परिष्कार का। जब तक इस काम को करने वाले राज्य के मोह से दूर, भय से मुक्त, महापुरुष एवं संघटक, रहेंगे, लोकमत अपनी सही दिशा में ही चलता जायगा।

परं वैभवं नेतुमेतत्स्वराष्ट्रम्

परं वैभवं नेतुमेतत्स्वराष्ट्रम्

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की प्रतिदिन शाखा के कार्यक्रम में जिस प्रार्थना को सामूहिक रीति से कहा जाता है उसमें राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति के लिए कटिबद्ध होने की बात है। "परं वैभवं नेतुमेतत्स्वराष्ट्रम्" की पंक्ति में इसका समावेश है। वर्तमान दुरवस्था दूर हो और राष्ट्र उन्नतिशील बने यह आकांक्षा प्रत्येक देशभक्त नागरिक के हृदय में जाग्रत होना स्वाभाविक है।

फिर कई लोग संघ के स्वयंसेवकों से पूछते हैं कि उन्नति की आपकी कल्पना किस प्रकार की है? सच तो यह है कि जो लोग राष्ट्रोन्नति के लिए सक्रिय हैं उन्हें इस सम्बन्ध में विस्तृत रूप से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रहती। दुरवस्था देखकर जो सहज आन्तरिक व्यथा होती है वह भावना में प्रकट होती है और उस व्यथा को दूर करने के लिए जो प्रयत्न होते हैं वे प्रत्यक्ष कार्य में प्रकट होते हैं। इसलिए कार्य करने वालों के आचरण से ही परिस्थितियों का भावनापूर्ण सूक्ष्म विश्लेषण और उनका निराकरण करने के लिए निर्धारित कार्य एवं उद्देश्य दोनों बातों का पता ठीक-ठीक लग जाता है। पूछने वालों को अलग से उत्तर देने की तब न आवश्यकता ही रहती है और न ही सतत् कार्य करने वालों को इसका अवकाश ही रहता है। वे व्यर्थ के वाद-विवाद में उलझना नहीं चाहते। केवल कार्य पर ही उनकी दृष्टि केन्द्रित रहती है। यह सत्य होते हुए भी राष्ट्रोत्थान के व्रती कार्यकर्ताओं को सदा जागरूक रहकर सोचते रहने की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। कई बार इतिहास में ऐसा हुआ है कि केवल भावावेश में आगे बढ़ने वाले अपने उद्देश्य से भटक गये। भावावेश में विवेक छोड़ देने से, गलत मार्ग पर ही अग्रसर होना, भटकाव का कारण बनता है।

इसलिए असली और नकली प्रगति का अन्तर सदैव आँखों के समक्ष रहना चाहिए। असलियत को पहिचानने की शक्ति सदैव बनाये रखना जरूरी है। यह नहीं भूलना चाहिए कि कई बार कांच का टुकड़ा भी हीरा जैसा चमकता दिखाई देता है। इस समय यदि कांच और हीरा का सूक्ष्म भेद अवगत नहीं हुआ तो भूल हो सकती

है। एक कथा है– एक राजा था। उसके पास एक सौदागर आया। उसने चमकते हुए दो टुकड़े राजा के सामने रखे और कहा कि इसमें एक हीरा है और दूसरा कांच का टुकड़ा। ठीक–ठीक पहचानने का काम राजा का है। वह एक टुकड़ा ले ले। चाहे असली ले या नकली, दाम हीरे के मूल्य के ही देना होंगे। अब राजा असमंजस्य में पड़ गया। उस राजा के यहाँ एक साधु था। साधु की आँखे नहीं थीं। वह अन्धा था किन्तु था बुद्धिमान। राजा ने उस बुद्धिमान साधु पर यह कार्य सौंपा कि वह असली हीरा चुन दे। साधु ने थोड़ी देर में असली हीरा चुनकर राजा को दे दिया और कांच का टुकड़ा सौदागर के हाथ में वापस रख दिया। राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने साधु से पूछा कि आखिर उसने किस प्रकार सच्चे हीरे का पता लगाया? इस कहानी में साधु ने हीरे की असलियत पहिचानने का जो तरीका बताया मुझे नहीं मालूम वह ठीक है या गलत। किन्तु कहानी ऐसी है कि साधु ने उन दोनों टुकड़ों को कुछ देर धूप में रखा। काँच का टुकड़ा हीरे की अपेक्षा जल्दी और अधिक गरम हो गया था। बस इसी तरीके से उसने असली हीरे को पहिचान लिया। इस कहानी का तात्पर्य हमारे लिए केवल इतना ही है कि असली और नकली को पहिचानने के अवसर जीवन में अनेक बार उपस्थित होते हैं। ऊपर से जो शीघ्र प्रगति का रास्ता दिखाई देता है परिणाम में वह भूलभुलैया का खेल बनकर हमें कहीं का कहीं पहुँचा सकता है। जब हमें भटकाव का पता लगता है तब तक सब गुड़ मिट्टी हो जाता है। उद्देश्य पर पानी फिर जाता है। इसलिए सर्वांगीण उन्नति के लिए कटिबद्ध होना ही पर्याप्त नहीं है। लक्ष्य का ठीक–ठीक ज्ञाना होना भी जरूरी है। उन्नति का स्वरूप और उसकी दिशा का सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान करते रहने की जो वैज्ञानिक पद्धति है वह हमें विदित रहे तो सफलता निश्चित है। भूगोल शास्त्र में ग्लोब पर किसी शहर का ठीक–ठीक स्थान निर्धारित करने के लिए जिस प्रकार अक्षांश और देशांश रेखाएँ निर्धारित कर दी जाती हैं उसी प्रकार उन्नति के सम्बन्ध में भी उसका स्वरूप और दिशा दोनों पूर्व निर्धारित होना चाहिए।

इसलिए हम पाते हैं कि संघ की प्रार्थना में जहाँ "परं वैभवं नेतुमेतत्स्वराष्ट्रम्" उद्देश्य घोषित करने वाली पंक्ति है वहाँ उसी के साथ कुछ और बातें भी कही गई हैं। "राष्ट्र का परम वैभव" लक्ष्य अवश्य है किन्तु किसी भी कोटि का वैभव, परम वैभव नहीं कहला सकता। उधार मांगी हुई सम्पन्नता अथवा परिस्थितियों के दबाव में आकर उठाये गये कदमों की प्रगति को ही हम यदि वैभवपूर्ण स्थिति समझ बैठें तो परिणाम दुःखदायी ही होंगे। भारतवर्ष के अति प्राचीन सनातन राष्ट्र–जीवन की आधारभूत मान्यताओं को ठुकराकर यदि हम बढ़ते चले, ऐतिहासिक प्रमाणों और तर्कशुद्ध वैचारिक निष्कर्षों को तिलांजलि देकर हम कार्यरत रहे तो क्या हाथ लगेगा? केवल चलने को ही गति समझ बैठे तो क्या निश्चित स्थान पर पहुँच

सकेंगे? केवल यात्री ही बने और काशी न पहुँचकर लन्दन, मास्को या वाशिंगटन पहुँच गये तो क्या हमें काशी के गंगा–स्नान का पुण्य मिल सकेगा? इसलिये जिस प्रकार यात्रा जरूरी है उसी प्रकार प्रत्येक कदम की दिशा निर्धारित करने वाली शर्त भी अपरिहार्य ही है। इसलिए इस प्रार्थना की "परं वैभवं नेतुमेतत्स्वराष्ट्रम्" वाली पंक्ति तब तक पूर्ण नहीं है जब तक हम उसके पूर्व कही गई पंक्ति "विजेत्री च नः संहता कार्यशक्तिर्" और "विधायास्य धर्मस्य संरक्षणम्" का अर्थ ठीक–ठीक नहीं समझ लेते। केवल वैभव ही काम का नहीं है। इन पंक्तियों में कहा गया है कि 'धर्म का संरक्षण करते हुए हमारी यह संगठित कार्य–शक्ति राष्ट्र को परम वैभव पर ले जाने में समर्थ हो।' यानी राष्ट्र को परम वैभव पर ले जाने के लिए दो शर्तें हमारे सामने पूर्ण करने के लिए हैं। तब ही वह वैभव, राष्ट्र का सच्चा वैभव सिद्ध होगा। पहली बात तो यह है कि यह वैभव हमारे अपने राष्ट्रीय पुरुषार्थ से प्राप्त होना चाहिए। इसके लिए सम्पूर्ण राष्ट्र की संगठित कार्यशक्ति होना जरूरी है। यह शर्त पूरी होगी तो ही उस वैभव को हम भारत का सच्चा वैभव कह सकेंगे। साथ ही दूसरी बात कही गई है कि संगठित कार्यशक्ति के द्वारा वैभव प्राप्त करने की यह सफलता धर्म का संरक्षण करते हुए होना चाहिए। केवल संगठित शक्ति ही पर्याप्त नहीं है। चार चोर भी आपस में मजबूत संगठन बना सकते हैं। किन्तु वह संगठन न तो स्थायी होगा और न ही कल्याणकारी। इसलिए यह जरूरी है कि धर्म का संरक्षण करते हुए 'संहता' याने हमारी संगठित कार्यशक्ति 'विजेत्री' याने विजयशालिनी हो।

धर्म का आधार हो, हम सब राष्ट्रीय जनों की संगठित शक्ति हो और यह कार्यशक्ति विजयी हो तो हम राष्ट्र के परम वैभव को प्राप्त करने में समर्थ होंगे। इन तीनों बातों को एक साथ ध्यान में रखना होगा। केवल किसी एक का विचार करने मात्र से काम नहीं चलेगा। ये तीनों एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, परस्पर पूरक हैं, एक ही हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना ही नहीं की जा सकती। परम वैभव प्राप्त करना है तो सफल प्रयत्न जरूरी ही हैं। प्रयत्नों की सफलता संगठन पर ही निर्भर है। बिना धर्म के कोई स्थायी संगठन खड़ा ही नहीं हो सकता। उसी प्रकार धर्म तब ही प्रकट हो सकता है जब संगठन रूपी कार्यदक्ष ढाँचा हो। संगठन भी उन्हीं लोगों का हो सकता है जो स्वाभाविक रूप से एक हों और एक अंग–अंगी का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण समूह के नाते एक ही नाम से जाने जाते हों। जिस प्रकार शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है। आत्मा जरूरी है अन्यथा केवल शरीर का ढाँचा किस काम का? तथापि शरीर का ढाँचा कम महत्त्व का है। ऐसा नहीं कहा जा सकता। शरीर ही नहीं होगा तो आत्मा कहाँ प्रकट होगी? शरीर और आत्मा दोनों हों फिर भी यदि स्मृति का नाश हुआ हो, स्वअस्तित्व का ज्ञान न हो, व्यवहार जगत

में विभिन्न मानव समुदायों के साथ आने वाले भले–बुरे सम्बन्धों के बीच अपनी विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करने वाला नाम न हो तो भी सब कुछ व्यर्थ ही है। पागल अथवा अविकसित व्यक्ति को चाहे जिस नाम से पुकारिये कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसलिए नाम का भी महत्त्व है।

इसी प्रकार परम वैभव के लिए तीनों बातों की आवश्यकता है। शरीर में आत्मा का जितना महत्व है उतना ही संगठन याने समाज में धर्म का स्थान है। धर्म के आधार पर ही समाज कार्य करता है। इसी कारण संगठित कार्यशक्ति स्वाभाविक रूप से जो परिणाम देती है वही प्रगति है। वही परम वैभव है। शरीर और आत्मा का मेल ठीक–ठीक बना रहे तो प्रगति स्वाभाविक ही है। शरीर वही काम करेगा तो आत्मा के अनुकूल होंगे। तब कुछ भी अलग से बताना नहीं पड़ेगा। हर कदम पर सफलता और उन्नति होती जावेगी। अड़चन नहीं होगी। किन्तु अड़चन तब उपस्थित होगी जब शरीर और आत्मा के बीच कोई अन्तर आकर खड़ा हो जावेगा। शरीर आत्मा की अवहेलना करता हुआ कार्य करने लगे तो हाथ–पैर जरूर चलेंगे किन्तु उस आन्तरिक संघर्ष में दोनों कमजोर पड़ जावेंगे। शरीर क्षीण और आत्मा मलिन होती जावेगी। ये क्रियाएँ अवनति की ओर ले जाने वाली क्रियाएँ होंगी। शरीर भटकेगा, जबान चटपटी चीजें पसन्द करेगी और पेट उस बोझ को उठाने में असमर्थ, तब बारी–बारी से प्रत्येक अंग मनमानी करेगा। ऐसे ध्वस्त शरीर में आत्मा कितने दिन रह सकेगी ? इन सब बातों का मेल बैठाकर ही सोचना ठीक है। इसी प्रकार सामाजिक अस्तित्व का बोध, उसे क्रियान्वित करने के लिए संगठित कार्यशक्ति और इन सबका आधार स्वरूप धर्म, तीनों का मेल ही परम वैभव प्राप्त करा सकता है।

समाज की स्थिति और विकास में जिस धर्म का अत्यधिक महत्त्व है उसे भी भलीभांति समझ लेना चाहिए। परम वैभव के लिए धर्म की अनिवार्यता का जो प्रतिपादन उपरोक्त पंक्तियों में हुआ है, उससे उसके स्वरूप का थोड़ा बहुत ज्ञान हो जाता है।

'धर्म' आजकल ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग खूब हो रहा है। पक्ष या विपक्ष में धर्म की चर्चा चलती रहती है। धर्म की इस खींचतान में बहुधा यह देखा जाता है कि उसके अर्थ का अनर्थ चारों ओर फैला है।

जो बातें धर्म के अन्तर्गत वास्तविक रूप से कभी आती ही नहीं उन्हें ही धर्म के माथे मढ़कर लोग स्वयं को धर्मात्मा मान बैठते हैं। जैसे मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर में जाना धर्म का एक अंग अवश्य है किन्तु कई बार धर्म की व्यापकता का विचार न करते हुए मान लिया जाता है कि जो व्यक्ति मंदिर, मस्जिद में जाता है धर्मात्मा है। धर्म के नाम पर ऐसी कई चीजें चला दी गई हैं जिनसे धर्म

अनुपयोगी, हेय और त्याज्य भी माना जाने लगा। स्वार्थी और धूर्त लोग तो दुनियां भर में हर सामाजिक कमजोरी का लाभ उठाने में नहीं चूकते, ऐसी कमजोरियों को ढाँक रखने के लिए समाज में सदैव अज्ञान फैलाते रहते हैं। इस कारण धर्म के नाम पर अत्यन्त विकृत धारणाएँ प्रचलित हैं। जैसे कुछ लोग छुआछूत को ही धर्म समझ बैठे हैं। इस सम्बन्ध में मुझे एक घटना का स्मरण होता है। अपने सुपरिचित एक विख्यात वकील हैं। उनके पास एक मुकदमा आया। फौजदारी का मामला था। भयंकर डाका डालने का मामला था। जो व्यक्ति इस मामले में फँसा था उसने वकील साहब के पास आकर प्रार्थना की कि वे उसके वकील बनें। वकील ने देखा कि पुराना पापी है, उसने कई बार डाके आदि डाले हैं, फिर भी इस मामले में निर्दोष है। उन्होंने उसका मुकदमा लड़ा। मुकदमा जीत गये। यह व्यक्ति अदालत से छोड़ दिया गया। छूटने के बाद वह व्यक्ति वकील के पास आभार प्रकट करने के लिए आया। और पैर पकड़कर बोला, "महाराज आपकी कृपा से छूट गया। मैंने कई डाके डाले, चोरी भी की, लोगों को सताने के सब बुरे कर्म किये। किन्तु महाराज जनेऊ की कसम खाकर कहता हूँ कि मैंने कभी अपना धर्म नहीं छोड़ा।" वकील ने आश्चर्य भरे शब्दों में पूछा, "सो कैसे ?" वह बोला, "महाराज इतनी उमर गुजर गयी किन्तु दूसरों का छुआ हुआ भोजन नहीं किया, अपना धर्म नहीं छोड़ा।" याने उस व्यक्ति की मान्यता में धर्मपालन का मतलब है बिना छुआ हुआ भोजन करना। वैसे ही एक स्थान पर मैं गया तो वहाँ मुझे बताया गया, "देखिये उपाध्याय जी, आप जो कुछ धर्म की सही कल्पना लोगों के सामने रखते हों यहाँ तो धर्म का मतलब यही माना जाता है कि हरिजनों के कान में यदि वेदमंत्र पड़ जाय तो शीशा गलाकर कान में डाल देना चाहिए।" मैंने कहा कि यह तो धर्म नहीं है। वे बोले, "यहाँ तो यही समझा जाता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म के नाम पर ऐसी कई चीजें चल गई हैं जो वास्तव में धर्म नहीं हैं। किन्तु ऐसी बातें चल पड़ी हैं कि लोग उत्तेजनावश कहते भी हैं कि यही धर्म है। इसलिये जो इससे पीड़ित होते हैं वे चिल्लाते हैं कि बाबा धर्म से हमें बचाओ। जो लोग उनके प्रति द्रवित होते हैं वे भी धर्म से दूर भागने में ही भला मानते हैं। इस स्थिति में धर्म समझना टेढ़ी खीर ही है; सचमुच टेढ़ी खीर। कथा है कि एक सूरदास थे। याने भक्त सूरदास नहीं। जन्म से अंधे व्यक्ति को सूरदास कहकर ही बुलाया जाता है।

एक सज्जन ने उस सूरदास से पूछा, "बाबा, खीर खाओगे ?"

सूरदास ने इसके पहले कभी खीर नहीं चखी थी। इसलिए उसने पूछा, "खीर ? कैसी खीर ? यह किस प्रकार की वस्तु है ?"

खीर समझाने के लिए वार्ता चल पड़ी– "तुम्हें खीर नहीं मालूम ?"

"नहीं।"

"अरे सूरदास, खीर सफेद होती है।"

"सफेद कैसी ?"

"बगुले जैसी।"

"बगुला कैसा ?"

उक्त सज्जन ने अपने हाथ को बगुले जैसा बनाकर उस सूरदास के हाथ के नीचे रखा और कहा– "बगुला ऐसा होता है।"

सूरदास ने उस सज्जन के हाथ को भली प्रकार टटोलकर देखा और फिर कहा, "न भाई, यह खीर हम नहीं खायेंगे। यह तो बड़ी टेढ़ी खीर है।"

इस प्रकार अच्छी स्वादिष्ट खीर भी उस अंधे व्यक्ति के लिए टेढ़ी खीर हो गई। उसी प्रकार आज धर्म को समझना भी कई लोगों के लिए बड़ी टेढ़ी खीर है। ठीक वैसे ही जैसे चारों ओर यदि घिसे हुए और खोटे सिक्के चलने लगें तो सच्चा रुपया खोजना कठिन हो जाता है। एक स्थान पर मैं गया था। वहाँ १० पैसे का सिक्का काफी मात्रा में खराब चल गया था। मैंने रिक्शेवाले को १० पैसे का सिक्का दिया तो वह बोला, "बाबू जी यह नहीं चाहिए।" मैंने कहा, क्यों भाई, इसमें क्या खराबी है ? तो वह बोला, "खराबी तो मुझे मालूम नहीं किन्तु यह चलता नहीं है आजकल।" मैंने कहा, "खराब नहीं चलता होगा, खोटा नहीं चलेगा परन्तु यह तो अच्छा है।" मैंने उसे यहाँ तक कहा कि इसे यदि तुम लेने से इन्कार करोगे तो यह जुर्म होगा, तुम्हें लेना पड़ेगा। तो वह हाथ जोड़कर कहने लगा, "बाबू जी हम कानून–वानून तो जानते नहीं, आप हमको चवन्नी दे दीजिए, हम आपको बाकी पैसे वापिस कर देंगे।" यानी खोटा सिक्का चल पड़ा। ऐसा सिद्धान्त है कि खराब सिक्का अच्छे सिक्के की चलन को रोक देता है। क्योंकि खोटा सिक्का ही सब लोग चलाने का प्रयत्न करते हैं। अधिक लोग ऐसा ही सोचते हैं कि यदि मैं बेवकूफ बना तो दूसरों को भी वैसा ही मूर्ख बनाऊँ। मनुष्य के मन में सवाया बनने का जो भाव रहता है इस कारण दूसरों को मूर्ख बनाने में ही शांति का अनुभव करता है। बस ऐसे ही खोटा चलता रहता है और अच्छे का चलन रुक जाता है। ठीक यही बात शायद धर्म के सम्बन्ध में हो गई है। धर्म के सम्बन्ध में विकृतियों के चलन की ही भरमार है। फिर इस स्थिति में लोग कहते हैं कि ऐसा धर्म नहीं चाहिए। समूचे धर्म को ही लोग तिलांजलि दे बैठते हैं। धर्म की विकृत अवस्था से घबराकर सच्चे धर्म को भी छोड़ बैठने की भयंकर बात होने लगती है। किन्तु इस स्थिति में से बात बनती नहीं, बिगड़ती ही जाती है। इससे काम भी नहीं चलता। आखिर कितने दिन धर्म से इनकार किया जावेगा। कुछ न कुछ करना पड़ता ही है। मान लीजिए कहीं हैजा फैलने की बात हो गई और किसी ने यह निर्णय कर लिया कि अब वह कुछ

खाएगा–पिएगा ही नहीं। तो यह बात कितनी देर चलेगी ? मनुष्य जिन्दा कैसे रहेगा ? उसे विवेकपूर्वक ठीक और खराब का भेद समझ कर ही व्यवहार करना उत्तम है। इसी प्रकार हो सकता है कि लोगों ने धर्म को विकृत किया होगा। दुरुपयोग हुआ होगा। इस कारण कुछ लोग ऐसा मानने भी लगे होंगे कि धर्म बड़ी खतरनाक चीज है। तो भी धर्म के सत्य स्वरूप को पहचानकर प्रस्थापित करना ही होगा। यह नहीं हो सकता कि धर्म को ही तिलांजलि दे दी जाय। खाट पर किसी की मृत्यु होती है, केवल इसीलिए कोई खाट पर सोना बन्द नहीं कर देता। सड़क पर दुर्घटना हो गई इसलिए लोग सड़क पर चलना बन्द नहीं करते। बुद्धिमानी इसी में है कि खराबी, विकृति, अहितकारी बातों को दूर कर योग्य वस्तु को ग्रहण करें।

धर्म के सम्बन्ध में जो विकृति आज चारों ओर दिखाई पड़ती है उसका अन्य कारणों के साथ एक बड़ा कारण विदेशी शिक्षा भी है। अंग्रेजी शब्द 'रिलीजन' ने धर्म सम्बन्धी शुद्ध अर्थ को खराब करने में बहुत सहायता की है। अंग्रेज जब भारत में आये तो उन्होंने भारत में धर्म शब्द सुना। धर्म जैसा व्यापक शब्द उनके पास नहीं था। उन्होंने धर्म का अनुवाद कर दिया 'रिलीजन'। अनुवाद के कारण ऐसा अर्थ का अनर्थ कई भारतीय शब्दों के साथ हुआ है। जैसे अंग्रेजी में सिस्टर–इन–ला शब्द है। अंग्रेजी में चाहे साली हो या भाभी एक ही शब्द-प्रयोग है। उसी प्रकार दादी हो या नानी दोनों को ग्रैंड–मदर ही कहा जाता है। अब हिन्दी और अंग्रेजी के इन शब्दों के अर्थ में कितना अन्तर है ? किन्तु फिर भी चल पड़े हैं। इसी प्रकार कई शब्द हैं जो भारतीय प्रकृति, सभ्यता, परम्परा के अनुकूल नहीं पड़ते फिर भी अनुवाद में ठूंस दिये गये हैं। धर्म का भी यही हाल हुआ। हिन्दू धर्म एक व्यापक शब्द है जिसमें कई रिलीजन सम्मिलित होते हैं। रिलीजन को हमारे यहाँ उपासना–पद्धति कहा गया है। इस प्रकार तो यहाँ अनेकों उपासना–पद्धतियाँ प्रचलित हैं। वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध, सिख, लिंगायत आदि कितनी ही प्रकार की भगवान की उपासना–पद्धतियाँ हैं। अनेक मत, अनेक सम्प्रदाय, प्रार्थनाएँ हैं फिर भी धर्म एक है। धर्म वही है जो सबके लिए लाभकर हो, मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता हो। धर्म की व्याख्या की गई है कि **"धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।"** धारणा से धर्म का सम्बन्ध है। यानी जिस चीज के कारण, जिस शक्ति के कारण, जिस भाव, जिस व्यवस्था, जिन नियमों के कारण धारणा होती हो, वही धर्म है। मनुष्य की धारणा जिससे होती हो वह मनुष्य–धर्म, शरीर की धारणा जिससे होती हो वह शरीर–धर्म, इसी प्रकार जनता की, प्रजा की और इससे आगे बढ़कर जड़–चेतन–युक्त सम्पूर्ण सृष्टि की धारणा के भी निश्चित नियम हैं। धर्म ही सब की धारणा करता है। धर्म हट जाय तो कोई वस्तु नहीं टिकेगी, नष्ट हो जावेगी। इसीलिए हमारे यहाँ धर्म का प्रतीक बैल माना गया है। धर्म के चार चरण बताये गये हैं, जिस प्रकार बैल के लिए

आधार उसके चार पैर हैं यदि उसके पैर टूट जावें तो बैल खड़ा नहीं रह सकता। ठीक उसी प्रकार धर्म के चार चरणों पर ही सब कुछ टिका हुआ है। हम अपना ही उदाहरण लें। हमारा जीवन शरीर पर निर्भर है। यदि शरीर ठीक न हो तो कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। किन्तु शरीर भोजन पर टिका हुआ है। भोजन करना शरीर–धर्म का पालन करना है। फिर भोजन वही करना होगा जो शरीर को टिका सके। इसलिए शरीर की अलग–अलग स्थितियों में अलग–अलग नियम लागू होंगे। जो भोजन स्वस्थ आदमी के लिए है वही यदि किसी बीमार व्यक्ति को दे दिया जाय तो घोर अधर्म हो जावेगा। इसलिए हर परिस्थिति के लिए आचार–धर्म है। कहते हैं कि मोर कंकड़ खाता है किन्तु मनुष्य यदि कंकड़ खावेगा तो काम नहीं चलेगा। मनुष्य में भी जो भोजन छोटे बच्चे के लिए ठीक है वही बड़ी आयु के नौजवान के लिए नहीं है। कोई यदि कहे कि भोजन के सम्बन्ध में सबके लिए एक नियम बना दो तो यह असम्भव बात है। इसलिए भिन्न परिस्थितियों और भिन्न वस्तुओं के लिए एक जैसे नियम नहीं हो सकते। फिर मनुष्य के लिए केवल शरीर की ही बात नहीं है। शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मन भी स्वस्थ चाहिए। उसके बाद बुद्धि भी है जो आवश्यक है। शरीर और मन स्वस्थ हो किन्तु बुद्धि गड़बड़ हो, काम न करे तो व्यक्ति पागल माना जावेगा। पागल व्यक्ति कौन–सा कार्य कर सकता है? पागल न भी हो, यदि भ्रमित बुद्धि हो तो भी काम नहीं चल सकता। मृग के समान मरीचिका के पीछे दौड़ता रहे तो कुछ भी हाथ नहीं आवेगा। इसलिए शरीर और मन के साथ बुद्धि भी ठीक चाहिए। बुद्धि के ऊपर उठकर हमारा 'अहं' भी है जो संतुष्ट होना चाहता है। और सबसे अन्त में एक और तत्त्व है जिसे आत्मतत्त्व कहा गया है। वह भी ठीक होना चाहिए। इस प्रकार शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा से युक्त मनुष्य की जो धारणा कर सके वही धर्म है। धर्म धारणा करता है और सामञ्जस्य प्रस्थापित करता है इसलिए नियम तैयार होते हैं। ये नियम देश, काल, परिस्थिति और वस्तु के हिसाब से अलग–अलग होते हैं। कुछ नियम ऐसे हैं जो सामान्य रीति से सब पर लागू होते हैं।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। (मनुस्मृति)

धर्म के धृति, क्षमा, दम, चोरी न करना, शुद्धता, इन्द्रियनिग्रह, धीः, विद्या, सत्य और अक्रोध – दस लक्षण बताये गये हैं। इन नियमों को जानने के लिए स्मृति, शास्त्र, श्रुति हैं। इनकी रचना मानसिक और सामाजिक शास्त्र के ज्ञाता तत्त्वदर्शी लोगों द्वारा होती रही है। धर्म की उत्पत्ति इसीलिए श्रुति से मानी गई है। श्रुति याने वेद। वेद किसी एक मनुष्य के किसी विशेष समय में बनाये हुए नहीं है। वे भिन्न–भिन्न समय में पृथक्–पृथक् ऋषियों के समाधिजन्य ज्ञान के संग्रह हैं। जब श्रुति

बहुत बढ़ गई और उसमें अनेक शास्त्र और अनन्त विद्याओं का संकुल हो गया तो श्रुति का समष्टिगत प्रचार होना असंभव हो गया। अतः उसमें से भिन्न–भिन्न विषयों के पृथक्–पृथक् शास्त्र निकाले गये। सबसे अधिक और पहली आवश्यकता हुई धर्म शास्त्र की अर्थात् मनुष्य के प्रत्यर्थी भावों की साम्य–धारणा करने वाले शास्त्र की। अतः भगवान मनु की आज्ञानुसार श्रुति–सागर का मंथन होना आरम्भ हुआ। उससे प्रथम रत्न जो प्राप्त हुआ वह मानव–धर्म शास्त्र था। वह शास्त्र सूत्रबद्ध किया गया। सब इसको कण्ठस्थ करने लगे ताकि उनको इस शास्त्र की स्मृति सदा बनी रहे। अतएव यह शास्त्र मनुस्मृति के नाम से कहा जाने लगा। मनुस्मृति में अनेक धर्मों की मीमांसा की गई। तत्पश्चात् मरीचि आदि अनेक ऋषियों ने मानव धर्म शास्त्र में से उपदेश किए हुए एक–एक धर्म को लेकर अलग–अलग स्मृतियाँ रचीं। किसी ने जाति धर्म पर, किसी ने दैशिक धर्म पर, किसी ने वर्णाश्रम धर्म पर, किसी ने व्यवस्था धर्म पर, किसी ने आचार पर। ये सब स्मृतियाँ सूत्रबद्ध थीं। कालान्तर में इन सब स्मृतियों का लोप हो गया तो पंडितों ने स्मृति परम्परा से प्राप्त हुई उन पूर्व स्मृतियों की छाया लेकर और कुछ सामयिक बातों का समावेश कर पूर्व स्मृतियों के नाम से श्लोकबद्ध स्मृतियों की रचना की। पीछे बनी हुई स्मृतियों में मनुस्मृति का सबसे अधिक गौरव है। इस प्रकार धर्म हमारे यहाँ एक अति व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसका कार्य धारणा करना और परस्पर सामंजस्य स्थापित करना है।

यही वह व्यापक 'धर्म' है जो भारत की सम्पूर्ण छोटी–बड़ी व्यवस्थाओं के आधार पर दृष्टिगत होता है। धारणा करने का नाम धर्म होने के कारण ही इसकी व्यापकता अनन्त है। यह सम्पूर्ण मानव समाज का ही नहीं चराचर सृष्टि का आधार है। इसीलिए भारत का धर्म याने 'हिन्दू–धर्म' सच्चे अर्थ में मानव धर्म है। इसी के द्वारा विश्व के समस्त मानवों का कल्याण हो सकता है। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि अर्वाचीन महर्षियों ने विश्व के विभिन्न देशों में जाकर यही सन्देश दिया और विश्व ने श्रद्धावनत होकर इस तथ्य को स्वीकार किया कि हिन्दू धर्म ही वास्तव में मानव धर्म है। इसी के आधार पर विश्व की एकता अथवा मानव–कल्याण हो सकता है।

धर्म की इस धारणा शक्ति को पुष्ट और व्यवहार्य बनाने के लिए भारत में व्यक्ति, समाज, राष्ट्र आदि के सम्बन्ध में विभिन्न स्तरों पर व्यवस्थाएँ भी की गईं। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक सभी क्षेत्रों का समन्वित विचार कर सर्वांगीण प्रगति का रास्ता खोजा गया। व्यक्ति जीवन के लिए चार पुरुषार्थ– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चार आश्रम – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास तथा चार वर्ण– ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र की रचना हुई। धर्म इन चारों पैरों पर सुस्थिर किया गया। इन चार पैरों में कोई छोटा, बड़ा, ऊँचा–नीचा नहीं है। धर्म चारों पर समान

रूप से निर्भर बताया गया। इनके नियम निर्धारित किये गये। इन नियमों को देश, काल, परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनीय मानकर नूतन अभिव्यक्ति और समयानुकूल व्यवस्थाओं का मार्ग प्रशस्त किया गया। इसलिए यह सनातन हुआ। धर्म के कारण सम्बन्धी शाश्वत सिद्धान्त के आधार पर प्रत्येक वस्तु तथा क्रिया का हित–अहित विचार होने के कारण धर्म की सीमाएँ इतनी विस्तारपूर्वक रखी गईं कि उनका समग्र लेखा–जोखा करना ही असंभव है। इसलिए कहा गया कि **"धर्मस्य तत्त्वंनिहितं गुहायाम्"** धर्मतत्त्व बड़ा गूढ़ है। सारांश में कहा गया कि जो अपनी आत्मा के लिए अनुकूल है वही व्यवहार सबके साथ करो। इसीलिए **"मनः पूतं समाचरेत्"** वाली बात आयी। इसका अत्यन्त सरल और सामान्य सामाजिक व्यवहार के लिए सुलभ सूत्र भी बताया गया कि "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"। किन्तु हर क्षण में हर व्यक्ति के लिए ठीक–ठीक धर्म का निश्चय कर पाना भी तो कठिन है। इसलिए सरल मार्ग भी प्रस्तुत हुआ कि "महाजनो येन गतः स पन्थाः।" यदि उलझन में हो तो वैसा आचरण करो जैसा श्रेष्ठ जन करते रहे हैं। आदि–आदि कितने ही स्तरों पर धर्म के इस स्वरूप का आंकलन हुआ।

इस सर्वव्यापी, विशाल, व्यापक और सम्पूर्ण रचना के मूलाधार धर्म का संरक्षण करते हुए ही परम वैभव की ओर बढ़ा जा सकता है। इसके संरक्षण के लिए महान् शक्ति की आवश्यकता है। इसीलिए राष्ट्र की संगठित कार्यशक्ति की भी कामना की गई है। यही वह एकमेव मार्ग है जिससे राष्ट्र की सर्वांगीण प्रगति संभव है।

☆

१०

संगठन का आधार : राष्ट्रवाद

संगठन का आधार : राष्ट्रवाद

मिलकर रहने का नाम संगठन है। 'संगठन' का अर्थ है पारस्परिक सहकार्य का सूत्र स्थापित होना। संगठन की स्वाभाविक आवश्यकता का कारण भी यही है कि कोई व्यक्ति अकेला कुछ नहीं कर सकता। भौतिक हो चाहे आत्मिक, जीवन का सुख प्राप्त करना है तो अनेक लोगों का सहकार्य जरूरी है। कहने को हम भले ही कह दें कि अमुक कार्य मैंने अकेले ही किया है किन्तु यदि थोड़ा विचार करें तो पता चलेगा कि हमारी प्रत्येक कृति और उस कृति के कारण हुई उपलब्धि के पीछे समाज के अनेक बन्धुओं के हाथ हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को संगठित समाज–जीवन का अंग बनकर ही रहना चाहिए। यही स्वाभाविक है। इसी में सुख, समृद्धि और प्रगति निहित है। संगठन में शक्ति है और शक्ति से विश्व में सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। संगठन की ही यह महिमा है कि इसके सहारे सुख के समय, सुख में कई गुना वृद्धि हो जाती है और दुःख आ पड़ने पर दुःख का आघात भी बँटकर कम हो जाता है।

किन्तु कोई भी भीड़ संगठन नहीं होती। अक्सर इस सम्बन्ध में लोग धोखा खा जाते हैं। भीड़ को ही संगठन समझ बैठते हैं। भीड़ और संगठन में अन्तर यह है कि भीड़ में प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको अकेला समझता, अनुभव करता है। अनेक व्यक्ति होते हुए भी प्रत्येक अलग–अलग हैं। सबकी कृतियाँ अलग हैं, सबके लक्ष्य और हित भी अलग हैं। उनमें से किसी को भी यह पता नहीं कि वहाँ कब क्या हो गुजरेगा ? हो–हल्ला में कोई किसी की नहीं सुनता। सभी आपस में अजनबी हैं। हलचल तो है किन्तु अनुभूति के स्तर पर प्रत्येक अकेला है। संगठन में ऐसा नहीं रहता। अनेक होने के बाद भी संगठन में सबका मिल कर एक अस्तित्व है। लक्ष्य, दिशा और विचार एक हुए हैं। इस कारण सबके हित समान हैं। उनकी क्रिया में सौगुनी, हजारगुनी, लाखगुनी शक्ति प्रकट होती है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी इकाई होते हुए भी वह अब सम्पूर्ण का अभिन्न घटक है। इसलिए सफलता आनन्द, उत्साह

संगठन की इस महिमा को समझकर ही अनेक प्रकार के संगठन बनाने का यत्न मानव करता है। विभिन्न आधार संगठन बनाने के लिए खोजे जाते हैं। उद्देश्य और आवश्यकता ही संगठन निर्माण का आधार बनते हैं। उद्देश्य और उनकी आवश्यकता का जैसा स्वरूप होगा वैसा ही संगठन का व्याप और उसकी काल–मर्यादा तय होती है। उद्देश्य तात्कालिक और क्षणिक होगा तो आवश्यकता भी वैसी ही होगी, संगठन का रूप भी वैसा ही बनेगा। उतने ही दिन टिकेगा फिर बिखर जावेगा। खेल के मैदान में भी दो दल अपना–अपना संगठन बनाकर खड़े होते हैं। हार–जीत की होड़ लगती है। किन्तु यह संगठन खेल समाप्त होने तक ही रहेगा। ठीक उसी प्रकार से हम देखते हैं कि अनेक समस्याओं को लेकर संगठन बनते हैं। परिस्थितियाँ उनका उद्देश्य निर्धारित करती हैं। ढाँचा खड़ा होता है। किन्तु इस बीच यदि परिस्थिति बदल गई तो संगठन में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। विभिन्न स्तरों पर प्रश्न खड़े हो जाते हैं कि संगठन का मूल स्वरूप ही हिल उठा। अध्यापक एक संगठन बनाते हैं। किन्तु कुछ समय बाद उन्हीं अध्यापकों में से एक प्रधानाध्यापक बन जाता है तो लगता है कि उसके हित अब अलग हो गये। पचड़ा खड़ा हो गया। विवाद शुरू हो गया। संगठन की आवश्यकता पर ही शंका प्रकट की जाने लगी। इसी प्रकार अमीर, गरीब का मामला है। जो साधनहीन था वह यदि साधन सम्पन्न हो गया, अमीर बन गया तो उसे संगठन में से निकाल बाहर करने का प्रश्न आ उपस्थित हुआ। फिर सामाजिक जीवन में हम एक विशाल घेरे में खड़े रहते हैं। घेरे में हम किसी के दाहिनी ओर हैं तो किसी के बायीं ओर भी है। जाड़े में हमारे पास पहनने का जूता नहीं किन्तु हम पाते हैं कि ऐसे लोग भी हैं जिनके पाँव ही नहीं हैं। बिना पांव वाले से हम अधिक सम्पन्न हुए। इस प्रकार ऐसे संगठनों में स्तर की विभाजक रेखा खींचना भी व्यावहारिक नहीं होता। इसी प्रकार अमीरों के विरुद्ध गरीबों के संगठन बनते हैं। जातियों के अपने संगठन बनते हैं। डाक्टर, वकील, व्यापारी, दूकानदार, ठेलेवाले, फुटपाथ वाले अनेक प्रकार के पेशे के अनुसार भी संगठन बनते हैं। आदतों की समानता भी संगठन बनाने का आधार प्रदान करती है। गीत गाने वाले, नृत्य करने वाले, लेखक, कवि, ही नहीं भ्रमण–यात्री भी संगठन बना लेते हैं। धार्मिक विश्वास और उपासना के आधार पर संगठन खड़ा करने का अवसर मिल जाता है। राजनीतिक आकांक्षाएँ, भाषा, खान–पान रुचि कितने ही उद्देश्यों से संगठन बनते हैं। व्यक्ति अपने जीवन में अनेक स्तरों पर व्यवहार करता है, इसलिए वह एक साथ कई संगठनों में भी बना रहता है। जीवन की जो आवश्यकता उस पर अधिक दबाव डालती है वह उसी प्रकार के संगठन को वरीयता देता है। व्यक्ति की यह वरीयता विभिन्न प्रश्नों के कम–अधिक दबाव से सदा बदलती रहती है। इस प्रकार संगठन बनते हैं, उभरते हैं, क्षीण पड़ते हैं, नष्ट

होते हैं और फिर नये बनते हैं।

इन सब प्रकार के संगठनों की अपनी–अपनी उपयोगिता है। किन्तु फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि परिस्थितियों पर निर्भर संगठन स्थायी स्वरूप के नहीं हो सकते। आवश्यकता की तराजू पर वे नीचे–ऊँचे होते रहते हैं। बाह्य कारणों पर, बाह्य प्रतिक्रियाओं पर वे निर्भर रहते हैं। उनका ढाँचा स्वयं पूर्ण नहीं रहता। कई तो इसलिए भी व्यर्थ घिसटते रहते हैं क्योंकि उनका लक्ष्य ही व्यावहारिक नहीं होता। मानो, कई लोग मिलकर क्षितिज को छूने वालों का संगठन बनायें तो क्या कभी क्षितिज उनके हाथ में आ सकेगा। जैसे–जैसे वे आगे बढ़ेंगे, क्षितिज भी हटता जावेगा। मानव मात्र को संगठित करने की घोषणा करने वाले जो संगठन हैं वे प्रायः इस अव्यावहारिक कोटि में आ खड़े होते हैं। इस सम्बन्ध में विश्व की जो सबसे अधिक चर्चित संयुक्त राष्ट्र संघ संस्था है, सबसे अधिक राष्ट्रों के पारस्परिक संघर्ष का अखाड़ा बनकर उपस्थित हुई है। कारण वहाँ विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधि के रूप में राज्य सत्ताएँ जम बैठी हैं। मानव के नाम पर ही राष्ट्रों से संघर्ष चले हैं। राष्ट्र को ही आधार मानकर सम्पूर्ण विश्व का व्यवहार हो रहा है। नाम विश्व संगठन का और तैयार होते हैं राष्ट्रों के झगड़े।

प्रश्न उपस्थित होता है कि एक ओर सम्पूर्ण विश्व के संगठन इस अव्यावहारिकता को देखते हुए और दूसरी ओर बाह्य कारणों एवं परिस्थितियों पर निर्भर अल्पजीवी संगठनों को देखते हुए क्या किसी ठोस, स्थायी व्यावहारिक दृष्टि से कल्याणकारी संगठन का कोई मार्ग उपलब्ध नहीं है?

मार्ग एक ही शेष है। आज ऐसा संगठन राष्ट्र के आधार पर ही व्यावहारिक और स्थायी हो सकता है। आवश्यकता की दृष्टि से राष्ट्र के आधार पर होने वाला संगठन सदा–सर्वदा के लिए जरूरी ही माना जावेगा। स्थायित्व की दृष्टि से संगठन में विभिन्न घटकों की परस्पर पूरकता का जो स्थान है वह राष्ट्र में सहज प्राप्त है। राष्ट्र का बहुविध जीवन होने के कारण यह संगठन एकांगी भी नहीं होगा। आत्मनिर्भरता किसी भी संगठन की जीवन–शक्ति होती है और राष्ट्र इस दृष्टि से सदा सर्वदा कालजयी ही कहा जावेगा। जहाँ तक व्यावहारिक रूप से सक्षम होने का प्रश्न है आज के विश्व में यही एकमेव और सब प्रकार के आदान–प्रदान में मान्य इकाई है। इसलिए राष्ट्र को आधार मानकर संगठन का सच्चा स्वरूप उभरता है।

संगठन के सम्बन्ध में इस निर्णय पर पहुँचते समय हमें एक और विचार भी करना चाहिए। संगठन के कृत्रिम और स्वाभाविक भेद का अन्तर समझ लेना जरूरी है। पचास चीजों को एकत्रित कर स्वार्थ के आधार पर जो संगठन बनाया जाता है, उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। वास्तव में इसे संगठन न कहकर

एकत्रीकरण कहना ठीक होगा। अंग्रेजी में इसे एसोसियेशन कहते हैं। यह कृत्रिम संगठन है एवं तभी तक टिका है जब तक स्वार्थ हल होते हैं। किन्तु जहाँ स्वाभाविक संगठन होगा वहाँ स्वार्थ नहीं रहेगा। परस्पर अनुकूलता का भाव ऐसे स्वाभाविक संगठन के ऊपर से थोपा नहीं जाता, स्वाभाविक ही निर्माण होता है। अर्थात् जो कृत्रिम नहीं बनाया गया, स्वाभाविक ही प्रकट हुआ, वही संगठन है। राष्ट्र के सम्बन्ध में हम विचार करें तो हम पाते हैं कि राष्ट्र भी एक स्वाभाविक इकाई है। जीवमान संज्ञा है। इसीलिए उसमें चैतन्य है। राष्ट्र का संगठन किन्हीं स्वार्थों की पूर्ति के लिए नहीं उत्पन्न होता। मनुष्य शरीर में जिस प्रकार प्रत्येक अवयव स्वाभाविक ही क्रियाशील हैं। इसके लिए उन्हें प्रलोभन या शाबासी नहीं देनी पड़ती। उसी प्रकार राष्ट्र के घटक भी राष्ट्र की सेवा के लिए परस्पर अनुकूल व्यवहार करते हुए इसके संगठन को बनाये रखते हैं। एक राष्ट्र–भाव की विस्मृति के कारण घटक अंग शिथिल पड़ते हैं और यदि पूरी तरह निष्क्रिय हो गये तो सम्पूर्ण राष्ट्र के विनाश के कारण भी बनते हैं। किन्तु यदि इन घटकों में राष्ट्र–भाव का जागरण हो जाय तो वे पुनः स्वाभाविक क्रिया में संलग्न हो उठते हैं।

अतः हमें कालजयी, स्थायी, सक्षम, आत्मनिर्भर, व्यावहारिक और स्वाभाविक संगठन के लिए राष्ट्र को ही आधार मानना होगा। राष्ट्र का संगठन दृढ़ हुआ तो सामर्थ्य निर्माण होगा और विभिन्न अंग पुष्ट हो सकेंगे। कश्मीर से कन्याकुमारी तक प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में भारत के अनादि अनन्त अति प्राचीन राष्ट्र–जीवन को जाग्रत करना ही मूलगामी कार्य है। भारत का राष्ट्रजीवन हिन्दूजीवन है, इस सत्य को ध्यान में रखकर ही भारत में राष्ट्रीय संगठन की आराधना करनी होगी।

अब इस सम्बन्ध में कुछ लोग ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि राष्ट्र का संगठन मानव समाज की दृष्टि से छोटा है, इसलिए संकुचित है। यह बात सैद्धान्तिक दृष्टि से गलत है। क्योंकि कोई वस्तु छोटी होने के कारण ही संकुचित नहीं हो जाती। शरीर में मस्तिष्क अथवा ह्रदय सम्पूर्ण शरीर की तुलना में छोटे आकार का होता है क्या इसीलिए उसे संकुचित कहना योग्य है? सच तो यह है कि सभी अंग एक दूसरे के पूरक हैं। वास्तविकता यही है कि राष्ट्र और विश्व भी एक दूसरे के पोषक हैं।

फिर कुछ लोगों का यह भी कहना है कि राष्ट्र मानवता का विरोधी है। इसका कारण बताया जाता है कि विश्व में ऐसे कितने ही राष्ट्र हैं जिन्होंने मानव का अहित किया है। किन्तु क्या किसी वस्तु के दुरुपयोग से ही वस्तु खराब हो जाती है? आग से मकान जल गये तो क्या यह बुद्धिमानी होगी कि आग का उपयोग करना ही छोड़ दिया जाय। ऐसा यदि हम करते चलेंगे तो कितनी चीजें छोड़ते जावेंगे? यह दृष्टिकोण ठीक नहीं कहा जा सकता। हमें विवेक से काम लेना

होगा।

यह सही है कि विश्व में कुछ राष्ट्र ऐसे हैं जिन्होंने राष्ट्रीयता के नाम पर मानवता के लिए संकट पैदा किया। इन राष्ट्रों का इतिहास यदि हम बारीकी से देखें तो हमें पता चलेगा कि इसके लिए राष्ट्रीयता का विचार दोषी नहीं है। वहाँ का सम्पूर्ण जीवन–चिन्तन ही दोषी है। मानव सम्बन्धी पृष्ठभूमि में विचार करने की जो स्वस्थ दिशा है वह वहाँ नहीं रही। वहाँ जीवन का विकास ही गलत ढंग से हुआ। पश्चिम के जीवन में संघर्ष को ही विकास माना गया। पश्चिम ने मान लिया कि मानव तथा अन्य प्राणियों का विकास परस्पर संघर्ष में से हुआ है। डार्विन के विकासवाद में इस प्रकार के संघर्ष का भरपूर उल्लेख मिलता है। कहा गया है कि इस संघर्ष में जो दूसरे का विनाश कर ले जाते हैं वही बचते हैं, इस कारण वहाँ प्रतिस्पर्धा को जीवन माना गया। अर्थव्यवस्था, समाज–व्यवस्था सभी में इसी प्रतिद्वन्द्विता को विकास का मुख्य सूत्र पश्चिम द्वारा स्वीकार किया गया। वहाँ मनुष्य को मूलतः स्वार्थी माना गया। सम्पूर्ण प्रकृति और सब प्राणी उसके उपभोग के लिए ही स्वीकार किये गये। इसी भीषण संघर्ष में से वहाँ राष्ट्रवाद का उदय हुआ। जो भी राष्ट्र बलशाली हुआ वह दूसरों को खा डालने के लिए ही खड़ा हुआ। वहाँ सामूहिक स्वार्थ के नाते ही राष्ट्रीयता पनपी। एक पाश्चात्य विचारक ने इसी भाव के अनुसार व्याख्या दी कि "नेशनलिज्म और पेट्रियाटिज्म इज सेलफिशनेस एक्सटेण्डेड" याने राष्ट्रवाद या राष्ट्रभक्ति स्वार्थ को उद्दीपित करने का ही नाम है। स्वार्थ के कारण एकत्रित होकर दूसरों से लड़ने के लिए प्रस्तुत होना ही उनके यहाँ राष्ट्रीयता का आधार बना। इस निषेधात्मक विचार में राष्ट्र की भावात्मक भूमिका ही छिन्न–भिन्न हो गयी। परस्पर सहयोग के आधार पर राष्ट्रवाद का विकास वहाँ नहीं हुआ। विरोध में से पैदा हुई राष्ट्रीयता घातक तो होगी ही। वही वहाँ हुआ।

यूरोप के देशों में राष्ट्र नाम की सत्ता हजार–बारह सौ वर्ष पूर्व निर्माण हुई। उसका विशेष विकास चार–पांच सौ वर्षों में हुआ। उनके उस इतिहास के आधार पर ही जो लोग राष्ट्रीयता सम्बन्धी निष्कर्ष निकालते हैं वे निस्संदेह राष्ट्रीयता को घातक समझते हैं। पहले वहाँ मजहब के आधार पर लोग एकत्रित हुए। ईसाइयों और यहूदियों में संघर्ष हुआ। बाद में ईसाई और मुसलमानों में क्रूसेड होने लगे। विभिन्न समूह अपनी–अपनी सत्ता के विस्तार के लिए युद्ध करते थे। भारी रक्तापात हुआ। इंग्लैण्ड की राष्ट्रीयता रोमन विरोध में से प्रकट हुई। स्थान–स्थान पर रोमन–कैथोलिक के प्रति विरोध की भावनाएँ उठीं। आर्थिक शक्ति हाथ में लेने के लिए अंग्रेज और फ्रेंच लड़े। फ्रेंच और जर्मन के बीच लड़ाइयाँ हुईं, इंग्लैण्ड, फ्रांस और स्पेन में जिस प्रकार राष्ट्रवाद उठा उसी प्रकार बाद में जर्मनी और इटली में उसका विकास हुआ। इस विकास–क्रम में जिसके हाथों अधिक सत्ता आई वह

बाकी को पीड़ित करने, दुःख देने लगा। दुनियां में संकट उत्पन्न हुआ। जो मजहब को नहीं मानते उन कम्युनिस्टों ने भी अपनी विचारधारा का आधार वर्ग–संघर्ष ही माना है। पहले मजहब के आधार पर लड़ते थे। जबरदस्ती दूसरों पर मजहब लादा जाता था। जो राजा का मजहब होता था सारी प्रजा उसे मानने के लिए बाध्य की जाती थी। जो राजा के मजहब को न माने उस प्रजा को देश से बाहर निकाल देने का यत्न हुआ। जो बात पहले मजहब के नाम पर होती थी वही कम्युनिस्ट देशों में सत्ता के नाम पर आज हो रही है। इस प्रकार पश्चिम में राष्ट्रवाद का उदय मानव के पारस्परिक समन्वय में से नहीं, संघर्ष से हुआ है। घृणा, द्वेष और विनाश ही वहाँ उत्पन्न किया गया है।

किन्तु इसी आधार पर भारत की राष्ट्रीयता का मूल्यांकन करना गलत होगा। भारत में राष्ट्र–भाव का उदय स्वार्थ के रूप में प्रकट नहीं हुआ। भारत में राष्ट्रवाद का विचार कुछ सौ वर्षों का नहीं, सहस्राब्दियों का है। उसका आधार आपसी संघर्ष नहीं समन्वय है, परस्परानुकूलता है। पश्चिम के समान भारत की राष्ट्रीयता एक बड़ी प्राइवेट कम्पनी जैसी नहीं है जहाँ प्रत्येक नागरिक शेयर होल्डर के नाते अपने स्वार्थों के कारण ही चिपका हुआ हो। स्वार्थ के कारण तो डाकू भी एकत्रित होकर परस्पर ईमानदारी का व्यवहार करने लगते हैं। जेबकतरे भी आपस में कुछ नियमों का पालन करने लगते हैं। स्वार्थवश उत्पन्न हुए इन नियमों के आधार पर गठित संगठनों की प्रेरणा ही अलग होती है। ऐसा भारतवर्ष में नहीं हुआ। भारतवर्ष में मानव कल्याण का एक व्यापक और उदार जीवन–दर्शन प्रकट हुआ। जीवन के इस समग्र चिन्तन के कारण सामूहिक जीवन की एक ही अनुभूति अन्तःकरणों में हुई। इसके आधार पर भारत का राष्ट्रजीवन विकसित हुआ। मानव जीवन के श्रेष्ठ गुणों की आराधना का भाव गूंज उठा। भारत का मानस बोल उठा कि सृष्टि की प्रत्येक हलचल में संघर्ष नहीं पूरकता है। एक ही तत्त्व विभिन्न रूपों में उपस्थित हुआ है। इसलिए जो इन सब विभिन्नताओं में भी उस एक ही आत्मा का दर्शन करता है वही श्रेष्ठ है, आर्य है, मनुष्य कहलाने योग्य है। इस श्रेष्ठ मनुष्य के निर्माण में जो व्यवस्था, जो नियम लागू हों वे ही धर्म हैं। स्वार्थ के स्थान पर समर्पण को मान्यता दी गई। प्रतिक्रिया के स्थान पर भावात्मक और रचनात्मक पद्धति से विचार हुआ। प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर परस्पर पूरकता का मंत्र गुंजाया गया। क्षमा, दया, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य की महिमा गायी गई। विभिन्न प्रकार की आस्थाओं को मानव के विकास की सीढ़ियाँ कहकर समादृत किया गया। विभिन्न सम्प्रदायों का आदर हुआ। एक ही सत्य के विभिन्न रूपों, उनके नामों और सत्य तक पहुँचने ही की विभिन्न पद्धतियों को स्वस्थ विकास के लिए अपरिहार्य नहीं, नितान्त आवश्यक माना गया। इसलिए केवल सहिष्णुता ही नहीं एकात्मता की

आराधना करने का उपदेश मिला। भारत का यह राष्ट्रवाद प्राणी मात्र के प्रति कल्याण की भावना लेकर प्रकट हुआ।

इसलिए पश्चिम के राष्ट्रवाद से भारत के राष्ट्रवाद की तुलना करना ही गलत है। पश्चिम ने द्वैत के आधार पर संघर्ष का नगाड़ा बजाया और भारत ने अद्वैत के आधार पर एकात्मता की बांसुरी बजायी। दोनों वाद्य होते हुए भी दोनों की स्वरलहरियों में भारी अन्तर है। इस भेद को समझ कर हमें अपने राष्ट्र के संगठन का विचार करना चाहिए। यारोप के देशों में राष्ट्रवाद के कारण विनाश हुआ इसीलिए भारत के राष्ट्रवाद को भी विनाशकारी कहना 'दूध का जला छाछ को भी फूंक–फूंक कर पीता है' वाली कहावत चरितार्थ करना है। इसलिए जिन राष्ट्रों ने मानव के लिए संकट पैदा किया– गलत कार्य किया, वैसा ही परिणाम हमारी राष्ट्रीयता से भी निकलेगा, यह निष्कर्ष ही गलत है। यह केवल घोषणा की बात नहीं। भारत की राष्ट्रीयता का सहस्रों शताब्दियों का इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है। विश्व के इन देशों ने जहाँ विगत हजार–पाँच सौ वर्षों में भीषण विनाश के दृश्य उपस्थित किये वहाँ भारत के लम्बे इतिहास में मानव को पीड़ा पहुँचाने का उल्लेख करने वाला एक भी पृष्ठ नहीं है। भारत का यदि कोई इतिहास है तो वह समस्त विश्व की मंगलकामना का ही है। विश्व के विभिन्न देशों में प्राप्त भारतीय इतिहास के अवशेष आज भी इसी तथ्य की घोषणा कर रहे हैं कि भारत ने प्राणिमात्र के कल्याण के लिए ही प्रयत्न किये हैं। इसलिए सत्य तो यह है कि विश्व में परस्पर संघर्ष, विद्वेष, प्रतिद्वन्द्विता के आधार पर प्रकट हो रही पश्चिमी राष्ट्रवाद की विभीषिकाओं से विश्व को बचाना है तो उसके लिए भारत के सशक्त राष्ट्रवाद को ही संगठित और सक्षम बनाकर खड़ा करना होगा। यही विश्व कल्याण का मार्ग है।

☆

99

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध

आज विश्व में समष्टि के जिस एक रूप की सर्वोपरि महत्ता है वह 'राष्ट्र' ही है।

सम्पूर्ण मानव जाति की भलाई का विचार लेकर जितने प्रयत्न आज तक हुए हैं वे सब अन्त में राष्ट्रवाद के सम्मुख हतप्रभ हुए दिखाई देते हैं। सच तो यह है कि मानवता के कल्याण में जो कुछ कार्य हो सका है वह भी 'राष्ट्र' के आधार पर ही हुआ है। ईसाई मत का प्रारम्भ हुआ तो उसमें राष्ट्र सम्बन्धी बन्धन लागू नहीं होता था। कैथलिक चर्च का प्रधान पोप ही प्रमुख माना जाता था। विभिन्न देशों में ईसाइयत फैली। रोम का पोप सर्वेसर्वा था। किन्तु धीरे–धीरे विभिन्न देशों में राष्ट्रवाद का जोर हुआ। पोप की सत्ता को चुनौती मिली और आज स्थिति यह है कि एक छोटे से वेटिकन सिटी में वह सीमित है। आज इन सब देशों में राष्ट्रवाद ही निर्णायक तत्त्व है। इस्लाम भी राष्ट्रीयता को नहीं मानता था। दुनियां के सब मुसलमानों को एक साथ खड़ा करने का विचार लेकर इस्लाम चला। सम्पूर्ण मुस्लिम जगत का एक खलीफा माना जाता था। किन्तु राष्ट्रीयता का ज्वार आया और खलीफा हटा दिया गया। आज राष्ट्र के आधार पर ही मुस्लिम विश्व में सोचने–विचारने का क्रम है। यही बात साम्यवाद के साथ भी हो रही है। साम्यवाद के उद्घोषक ने भी सम्पूर्ण विश्व के लिए बात कही। दुनियां के लोगों के सम्बन्ध में वैसा ही विचार किया। राष्ट्र की सीमाओं को मानने से इन्कार किया। किन्तु आज उसी साम्यवाद में राष्ट्र की भावना हिलोर ले रही है। रूस और चीन अपने–अपने राष्ट्रवाद के नाम पर खड़े हैं। यह चीज शीघ्र ही अन्य साम्यवादी देशों में प्रकट होने के लक्षण भी दिखाई देने लगे हैं। बौद्ध मत को मानने वाले भी कितने देश हैं किन्तु असलियत यही है कि सब ओर राष्ट्र के आधार पर ही चिन्तन चला हुआ है। विश्व के सभी प्रकार के आदान–प्रदान का प्रभावी माध्यम आज 'राष्ट्र' ही है। इस प्रकार विश्व में मानव संगठनों की सबसे बड़ी इकाई आज राष्ट्र है। इसी आधार पर विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान खोजना होगा।

'राष्ट्र' की इकाई का आधार क्या है? इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। सारांश में जिन बातों की आवश्यकता राष्ट्र के लिए होती है उनमें से प्रमुख है 'भूमि'। निश्चित भू–भाग होने के साथ दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है वहाँ रहने वाला मानव–समुदाय याने 'एक–जन'। इस 'भूमि' और 'जन' का माता और पुत्र जैसा सम्बन्ध होना राष्ट्र के लिए अनिवार्य है। उसी भू–भाग में दूसरे ऐसे लोग भी रह सकते हैं जो उस भूमि को अपनी मातृभूमि न मानकर और कुछ मानें। जैसे, अंग्रेज जब भारत में राज्य करते थे तो उनकी मातृभूमि इंग्लैण्ड थी। भारत को वे केवल भोगभूमि समझते थे। ऐसे सब लोग उस भूमि पर आक्रमणकारी ही माने जावेंगे। जो स्वयं को पुत्ररूप अनुभव नहीं करते, जो रहते तो इस भूमि पर हैं किन्तु जिन्हें सपने अन्य किसी भूमि के आते हैं, जिनके श्रद्धा–केन्द्र इस भूमि के बाहर हैं या जो इस भूमि के बाहर से प्रेरणा ग्रहण करते हैं ऐसे सब लोग इसी भूमि की जलवायु में जन्मे, पले और बढ़े हुए होने पर भी 'एक–जन' से कटे हुए हैं। उन्हें भी जब तक भूमि की ममता से एकरस नहीं किया जाता तब तक वे विघातक तत्त्व ही कहलावेंगे। इसलिए राष्ट्र की तीसरी आवश्यकता है ऐसे पुत्र–रूप समाज के सभी जनों की एक समान इच्छा। ऐसी इच्छा कि हम एक होकर रहेंगे, मिलकर चलेंगे, मातृभूमि का गौरव बढ़ावेंगे, समृद्धि और प्रगति में स्वाभाविक रीति से सहकार्य करेंगे। याने सब मिलकर एक संकल्प होना चाहिए। बिना एक संकल्प के कोई भी समष्टि नहीं चल सकती। सब लोगों की समान अनुभूति में से ही यह संकल्प प्रकट होता है। किन्तु ऐसी समान अनुभूति और उसके कारण प्रकट हुए संकल्प के लिए सबके सामने एक लक्ष्य होना जरूरी है। लक्ष्य याने सबका एक आदर्श। जीवन का एक आदर्श होना जरूरी है। इसी आदर्श को चरितार्थ करने के लिए संकल्प जागता है। यह आदर्श एकाएक निर्माण नहीं होता। समाज को ऊँचा उठाने के लिए भूतकाल में जो महान् प्रयत्न हुए हैं, असीम त्याग, परिश्रम और उद्योग किये गये हैं उनकी एक परम्परा बनती है। इस परम्परा को पुष्ट करने वाले महापुरुषों के जीवन उस आदर्श का दिग्दर्शन कराते हैं। और तब राष्ट्र के लिए अन्तिम आवश्यकता होती है उस व्यवस्था की जिसके अन्तर्गत इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए सफलतापूर्वक आगे बढ़ा जा सकता है। बिना किसी व्यवस्था के किसी समष्टि जीवन की कल्पना करना ही कठिन है। व्यवस्था नष्ट होते ही समष्टि का विनाश हो जाता है।

इस प्रकार हम मोटे रूप में कह सकते हैं कि 'राष्ट्र' के लिए चार बातों की आवश्यकता होती है। प्रथम भूमि और जन, जिसे हम देश कहते हैं। दूसरी सबकी इच्छाशक्ति याने सामूहिक जीवन का संकल्प। तीसरी एक व्यवस्था जिसे नियम या संविधान कह सकते हैं और सबसे अच्छा शब्द जिसके लिए हमारे यहाँ प्रयुक्त हुआ

है, वह है 'धर्म'। और चौथा है जीवन–आदर्श। इन चारों का समुच्चय याने ऐसी समष्टि को 'राष्ट्र' कहा जाता है। जिस प्रकार व्यक्ति के लिए शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा जरूरी है, इन चारों को मिलाकर व्यक्ति बनता है– उसी प्रकार देश, संकल्प, धर्म और आदर्श के समुच्चय से राष्ट्र बनता है।

व्यष्टि और समष्टि की इन दो सत्ताओं के जो पारस्परिक सम्बन्ध हैं वही राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति के कारण बनते हैं। इसलिए व्यष्टि और समष्टि के इन सम्बन्धों को हमें भली–भांति समझ लेना चाहिए।

हम यदि एक चौकोन डिब्बा अपने हाथ में लें तो जिस प्रकार उसकी दो सतह हम पावेंगे, इन्हें हम ऊपर और नीचे की सतह कह सकते हैं। किन्तु क्या इस डिब्बे में से कोई भी सतह निकालकर अलग की जा सकती है? हम डिब्बे को कितना भी छोटा करते जावें तो भी ये दो सतह बनी ही रहने वाली हैं। एक सिक्के की जिस प्रकार दो बाजू होती हैं 'चित्त और पट' अंग्रेजी में उसे 'हेड और टेल' कहते हैं। क्या किसी सिक्के से इनमें से कोई बाजू निकाली जा सकती है? बस ठीक इसी प्रकार व्यष्टि और समष्टि दोनों अविभाज्य हैं। जिस प्रकार हम डिब्बे को चाहे जितना छोटा करते चलें फिर भी ऊपर नीचे की दोनों सतहें रहने ही वाली हैं। उनका अन्तर भले ही कम अधिक हो परन्तु रहेंगी दोनों ही। इन दोनों बाजुओं में कौन बड़ी और कौन सी छोटी है? यह विचार ही वास्तव में गलत है। इसलिए जब कोई–कोई यह प्रश्न करता है कि व्यक्ति बड़ा है या समाज बड़ा? तो हिसाब लगाना असंभव हो जाता है। समाज भी बड़ा है और व्यक्ति भी बड़ा है। अथवा यों कहिए कि जितना बड़ा व्यक्ति है उतना बड़ा समाज और जितना बड़ा समाज है उतना बड़ा व्यक्ति। दोनों अभिन्न हैं। कुछ लोग जो पश्चिम की विचारधारा से प्रभावित हैं, व्यक्ति और समाज के बीच संघर्ष की भूमिका लेकर विचार करते हैं। उन्हें ये दो अलग–अलग दिखाई देते हैं। दोनों के अलग–अलग अस्तित्व की कल्पना की जाती है, दोनों के अधिकार भिन्न बताये जाते हैं। दोनों में झगड़ा दिखाया जाता है। कहा जाता है कि व्यक्ति और समाज के हित टकराते हैं। पश्चिम के सोचने में ही द्वैत घुस गया है। वहाँ प्रत्येक बात को संघर्ष के आधार पर ही सोचा जाता है। एक में तो संघर्ष नहीं हो सकता। संघर्ष के लिए दो की जरूरत रहती है। पश्चिम ने द्वैत का पल्ला पकड़ लिया है। वहाँ पति और पत्नी को भी दो मानकर विचार होता है। प्रेम का विचार करते समय भी दो मानकर प्रेम होता है। दोनों में समझौता होता है, दोनों में बीच–बचाव का यत्न किया जाता है। दोनों के बीच जिस एकता की कल्पना की जाती है उसमें भी दोनों की अलग–अलग सत्ता ही मानी जाती है। इसलिए वहाँ विवाह भी एक आपसी समझौता है। फिर समझौता टूटता है, विच्छेद होता है। याने एक सतत् संघर्ष को ही वहाँ स्वाभाविक स्थिति मानी गई

है। भारत का चिन्तन अद्वैत का है। यहाँ 'दो' को जो 'एक' देखता है वही ठीक देखता है और है भी यही वास्तविकता। एक सिक्के के दो पहलू अथवा एक चौकोन डिब्बे की दो सतह दिखने में दो भले ही दिखाई दें, अस्तित्व में अभिन्न और अविभाज्य हैं। दोनों में किसी प्रकार के संघर्ष की कल्पना ही मूढ़ता है। दोनों में जो ऊपरी भिन्नता दिखाई देती है उस कारण कभी कोई मतभेद हो सकता है। हमारे यहाँ पति–पत्नी को एक ही माना गया है फिर भी कभी कोई टकराहट हो ही जाती है। किन्तु उस टकराहट को दूर करने का उपाय भी दोनों को परस्पर विरोधी समझकर हल निकालना नहीं। शरीर में जिस प्रकार दो टांगे हैं। शरीर यदि कमजोर हो तो कभी–कभी दोनों टांगें आपस में टकरा जाती हैं। किन्तु इस टकराहट को दोनों टांगों के बीच आपसी और स्थायी विरोध मानकर जलना और टकराहट दूर करने के लिए दोनों टांगों के बीच एक लकड़ी बांध देने का यत्न करना क्या बुद्धिमानी कही जावेगी ? मूलतः यही सोचना होगा कि टकराहट विकृति का लक्षण है, अव्यवस्था का लक्षण है। विकार उत्पन्न होने के कारण अव्यवस्था आई है। होश–हवाश ठिकाने पर नहीं है। इस स्थिति में क्या ऐसा मान कर चला जाय कि यह विरोध स्थायी है ? संघर्ष होना ही स्वाभाविक है, क्या इसलिए संघर्ष को स्थायी मानकर नियम और व्यवस्थाएँ खड़ी की जावें ? दोनों को क्या अलग–अलग रखा जाय ? तब क्या कोई स्थायी हल निकल सकेगा ? दोनों सदैव अभिन्न होते हुए भी परस्पर शंका की दृष्टि से ही देखते रहें तो क्या आनन्द की सृष्टि कर सकेंगे ? सुख मिलेगा ? इसलिए भारत ने इस प्रकार के द्वैत का विचार नहीं किया। हमने समष्टि को भी एक जीवमान इकाई माना। व्यष्टि और समष्टि को अभिन्न मानकर चले। हम इनमें टकराव नहीं मानते। व्यक्ति समाज के विरोध में कार्य करे, समाज के हित की चिन्ता न करे, व्यक्ति पड़ोसी से सदैव वैर का ही अनुभव करे, प्रत्येक व्यक्ति अपना सुख दूसरे के साथ प्रतिद्वन्द्विता में ही माने तो क्या काम नहीं चलेगा। रास्ते पर चलने वाली प्रत्येक मोटर गाड़ी मुझे टकराने ही वाली है, घर में आया हर एक व्यक्ति मुझे लूटने के लिए ही आया है, बाजार में हर कोने पर जेब–कतरे ही जेबकतरे खड़े हैं– ऐसी कल्पना करके चलने वाले मानव समूह में भला कौन–सी शांति निर्माण हो सकेगी ? व्यक्ति यदि अधिक सम्पन्न, बलवान हो गया तो वह समाज को धर रगड़ेगा और यदि समाज के हाथ में सब सूत्र आ गये तो व्यक्ति की सब स्वतंत्रताओं का अपहरण होना ही चाहिए। ऐसा मानकर चलना और इन दो स्थितियों में से किसी एक को चुनने के लिए बाध्य होना क्या मानव के उदात्त चरित्र की भूमिका हो सकेगी ? दो के फेरे में हम दोनों को ही गंवा नहीं बैठेंगे ? इसलिए आज जो व्यक्ति के सम्पन्न होने से ऊब जाते हैं वे समाज पर बल देने लगते हैं और जो समाज के सर्वसत्ता सम्पन्न होने से कराहते हैं वे व्यक्ति को

मजबूर करने की बोली बोलते हैं। किन्तु इस द्वैत में से रास्ता निकालना असंभव है। भारत ने अपने चिन्तन में इसीलिए यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति और समाज में विरोध मानना ही भूल है। विकृतियों की, अव्यवस्था की बात छोड दें। उसे दूर करने के उपाय करना भी जरूरी होते हैं किन्तु मूल सत्य यही है कि व्यक्ति और समाज अभिन्न और अविभाज्य हैं। सुसंस्कृत अवस्था यही है कि जहाँ व्यक्ति अपनी चिन्ता करते हुए भी समाज की चिन्ता करेगा। दोनों में सामान्य स्थिति है, पूरकता है। समाज का बिगाड़कर अपनी भलाई करने का विचार जो करेगा वह गलत सोचेगा। यह विकृत अवस्था है। इसमें उसका भी भला नहीं होने वाला क्योंकि समाज जिस स्थिति में पहुँचेगा उसे व्यक्ति को ही भोगना पड़ेगा। 'हित अनहित पशु पक्षीहि जाना' किन्तु यह मनुष्य होकर भी अपना वास्तविक हित नहीं समझता इसलिए पशु से भी गया बीता है, विकृत है। इसे सुधारना होगा। यदि समझाने से नहीं सुधरे तो जनमत द्वारा दंडित करना होगा। यह स्थिति अपवाद है, सामान्य नियम नहीं।

सामान्य अवस्था यही है कि हम अपनी चिन्ता करते हुए समाज की चिन्ता करें। हमारे हित और समाज के हित में विरोध नहीं, संघर्ष नहीं। इसलिए जब कोई लोग हमसे पूछने लगते हैं कि आप व्यक्तिवादी हैं अथवा समाजवादी ? तो हमें कहना पड़ता है कि भाई हम तो व्यक्तिवादी भी हैं और समाजवादी भी। भारतीय चिन्तन के अनुसार हम व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करते और समाज के हितों की चिन्ता बराबर करते रहते हैं। समाज के हितों की चिन्ता करते हैं इसलिए समाजवादी हैं और व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करते इसलिए व्यक्तिवादी भी। व्यक्ति को ही सर्वेसर्वा नहीं मानते इसलिए कहते हैं कि व्यक्तिवादी नहीं हैं। हम समाज को भी ऐसा नहीं मानते कि वह व्यक्ति की समस्त स्वतंत्रताओं और विभिन्नताओं का अपहरण कर ले, मनुष्य को किसी शिकंजे में कस कर मशीन का पुर्जा बनाकर इस्तेमाल करे इसीलिए हम समाजवादी नहीं हैं। हमारी मान्यता है कि बिना व्यष्टि के किसी समष्टि की कल्पना ही नहीं की जा सकती और बिना समष्टि के व्यष्टि का क्या मूल्य ? इसलिए हम दोनों के बीच समन्वय करना चाहते हैं।

व्यक्ति के विकास और समाज की पूर्णता का यही समन्वित विचार भारतीय चिन्तन की विश्व को देन है। व्यक्ति जन्म लेता है। समाज द्वारा उसे शिक्षित और संस्कारित किया जाता है। धीरे–धीरे व्यक्ति गुणवान बनता है। व्यक्ति अपने अन्दर सुप्त श्रेष्ठताओं के विकास का अवसर पाता है। समाज उसकी देखभाल करता है। व्यक्ति को बुद्धिमान, धैर्यवान, पराक्रमी, शक्तिवान और धनवान बनाने का काम समाज ही करता है। इस प्रकार समाज से सब कुछ पाकर जब व्यक्ति सक्षम हो जाता है तो वह स्वयं कर्म करता है। किन्तु जिस प्रकार वृक्ष स्वयं फल नहीं खाता, व्यक्ति भी अपने सत्कर्म समाज को समर्पित करता है। वह अपने तक ही विचार नहीं

करता। सब का विचार करता है। यदि किसान है, तो खेत में इसलिए अन्न नहीं बोयेगा कि उसकी अपनी जरूरत है वरन् वह ऐसा अन्न पैदा करेगा जिसकी समाज को आवश्यकता है। ठीक वैसे ही जैसे घर में माँ भोजन पकाते समय खुद का विचार नहीं करती। घर के सब लोगों की जरूरत का ध्यान रखकर भोजन पकाती है। इसी प्रकार व्यक्ति के कर्म इस दृष्टि से होते हैं कि समाज की आवश्यकता की पूर्ति हो। व्यक्ति अपने गुण और शक्ति का उपयोग समाज के लिए करता है। जब व्यक्ति समाज को अधिकाधिक समर्पित करता है तब समाज भी व्यक्ति के योग–क्षेम की चिन्ता करता है। वैसे व्यक्ति अपने गुणों और शक्ति से समाज की दो–चार आवश्यकताओं की ही पूर्ति कर पाता है। किन्तु समाज उसके बदले में उसे कई चीजें लौटाता है। शिक्षा, वस्त्र, मकान, सुरक्षा ही नहीं तो सुख की अनेकानेक अनुभूतियों और दुःख में धैर्य–भावना आदि कितनी ही बातें समाज से व्यक्ति को मिलती जाती हैं। इस प्रकार व्यक्ति और समाज में अविभाज्य सम्बन्ध का आदान–प्रदान चलता है। जो व्यक्ति कमा नहीं पाते और कमजोर रह जाते हैं उनकी भी चिन्ता समाज ही करता है। इस आदान–प्रदान का मूल्यांकन हानि–लाभ बताने वाली मूल्य पद्धति से करना कठिन है। उदाहरणार्थ समाज ने रोगियों की चिकित्सा की व्यवस्था की। मरते हुए के प्राण बच गए। डाक्टर अथवा वैद्य के इस हेतु हुए परिश्रम का क्या मूल्य हो सकता है? शिक्षा केन्द्र में जाने से व्यक्ति का अज्ञान दूर हो गया। अध्यापक के इस कार्य का बदला किस प्रकार चुकाया जा सकता है? इसका मूल्य चुकाना असंभव है। इसलिए हमारे यहाँ पहले ये सब काम सेवा कार्य के नाते ही किये जाते थे। रुपये–पैसे में इसका मूल्यमापन नहीं होता था। प्रत्येक अपना कर्त्तव्य निभाने मात्र में विश्वास रखता था। क्योंकि सेवा का कोई मूल्य नहीं हो सकता। सेवा करना ही हमारा धर्म है। शेष सब चिन्ता समष्टि पर डाल देना चाहिए। गीता में जैसा भगवान कृष्ण ने कहा है कि जो कुछ तुम कर्म करते हो सब मुझमें समर्पित कर दो। तपस्या करते हो, यज्ञ करते हो, खाते–पीते हो, जो कुछ करते हो मुझे दे दो फिर तुम्हारे योगक्षेम की चिन्ता मैं करूँगा। इस प्रकार समष्टि, योगक्षेम की चिन्ता कर, व्यक्ति के लिए जो–जो कुछ आवश्यक है देता है। व्यक्ति के लिए समाज से इस प्रकार प्राप्त कर निर्वाह करना ही यज्ञशेष कहा गया है। **'त्येन त्यक्तेन भुंजीथाः'** के अनुसार त्यागपूर्ण ढंग से उपभोग करने की बात यही है। यज्ञशेष ही अमृत है। इसको जो प्राप्त कर उपभोग करेगा वह जीवित रहेगा। स्वयं जिन्दा रहेगा, समाज को भी जिन्दा रखेगा।

इस प्रकार भारतीय विचार पद्धति में व्यक्ति और समाज का सामंजस्य स्थापित होता है। समाज के व्यक्ति को शिक्षा मिली और मिला उपयोग के लिए योगक्षेम। व्यक्ति ने समाज को, दिया कर्म और त्याग। व्यक्ति और समाज को

पारस्परिक जोड़े रखने का कार्य जिस आधार पर होता है उसे ही हमारे यहाँ पुरुषार्थ कहा गया है। पुरुषार्थ चार हैं– अर्थ, काम, मोक्ष और धर्म। व्यक्ति का शरीर, भूमि, जन और उपभोग इन चारों चीजों से बना हुआ 'अर्थ–पुरुषार्थ' है। इसके द्वारा हम धन उत्पन्न करते हैं। सम्पत्ति पैदा करते हैं। शासन चलाते हैं। उसी प्रकार योगक्षेम, मन की इच्छाएँ, राष्ट्र का संकल्प और यज्ञभाग इन चारों से मिलकर 'काम–पुरुषार्थ' हुआ। तीसरा पुरुषार्थ है 'धर्म'। बुद्धि, राष्ट्र की परम्पराएँ, यज्ञ–भाव और ज्ञान या शिक्षा इन चारों से 'धर्म–पुरुषार्थ' बना। चौथा है 'मोक्ष'। निष्काम कर्म, ज्ञान, राष्ट्र के आदर्श और आत्मा से 'मोक्ष–पुरुषार्थ' बना। ज्ञान, कर्म, भोग और यज्ञ तथा चारों पुरुषार्थों को मिलाकर पूर्ण मानव का विचार किया गया। सबका पूर्ण समुच्चय जरूरी माना गया। किसी एक अंग का ही विचार करना गलत विचार करना सिद्ध हुआ। यदि कोई मनुष्य कहे कि वह केवल 'अर्थ' पुरुषार्थ का ही विचार करेगा शेष का नहीं, तो ऐसा करना गलत होगा। इसी प्रकार कोई केवल धर्म का विचार करे और अन्य की उपेक्षा करे तो वह भी ठीक नही। भारतीय चिन्तन में हम टुकड़े–टुकड़े का विचार नहीं कर सकते। समग्र चिन्तन की आवश्यकता है।

हम व्यक्ति और समाज को अलग–अलग हिस्सों में, परस्पर विरोध की भूमिका में नहीं देख सकते। विरोध के आधार पर जिस समानता की बात पश्चिम ने कही है हम उसे भी स्वीकार नहीं कर सकते। वास्तव में सृष्टि में कोई भी दो चीजें समान नहीं हैं। विविधता ही सृष्टि का सौन्दर्य है। इसलिए सबकी एक जैसी आवश्यकताएँ भी नहीं हो सकतीं। आवश्यकताओं की भिन्नता भी स्तर पर निर्भर करेगी इसलिए अनेक स्तर होना भी बिलकुल स्वाभाविक है। समानता लाने की बात परस्पर प्रतिद्वन्द्विता और ईर्ष्या निर्माण कर सकती है। असंतोष और संघर्ष को बढ़ा सकती है किन्तु सर्वांगपूर्ण विकास का अवसर नहीं दे सकती। इसलिए हमने समानता नहीं आत्मीयता के आधार पर सोचना प्रारम्भ किया। घर में छोटा बच्चा या अधिक वृद्ध, दोनों ही कमाते नहीं इसलिए समान नहीं हो सकते किन्तु आत्मीयतापूर्वक चलने चाले परिवार में कर्त्तव्य बुद्धि से सबके लिए अपनी–अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर पाना संभव हो जाता है। इसलिए हम किसी अंग पर ही सब ध्यान केन्द्रित कर देना ठीक नहीं समझते। हम सम्पूर्ण का विचार और आत्मीयतापूर्वक व्यवहार करने में विश्वास रखते हैं। इसलिए हमारी दृष्टि में व्यक्ति और समाज परस्पर पूरक, सहायक और अभिन्न हैं दोनों अविरोध सत्ताएँ हैं।

☆

१२

सामञ्जस्यपूर्ण समाजव्यवस्था

सामञ्जस्यपूर्ण समाज-व्यवस्था

पूर्व अध्याय में व्यक्ति के सुख से सम्बन्धित दो बातें स्पष्ट हो चुकी हैं। पहली यह कि शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सब प्रकार के सुख व्यक्ति को प्राप्त हों तो व्यक्ति अपनी धारणा के लिए पूर्णरूपेण समाधान का अनुभव करता हुआ विकास कर सकेगा। दूसरे यह कि व्यक्ति अपने इस विविध प्रकार के विकास के लिए समाज पर निर्भर है।

व्यक्ति का विकास और समाज पर उसकी निर्भरता का विचार करने वाले लोग सामान्यतः दो अलग–अलग प्रकार के चिन्तन का आग्रह करते हमें दिखाई पड़ते हैं। कुछ ऐसे हैं जो व्यक्ति के विकास को ही सर्वाधिक प्रमुख मानते हैं। उनका कहना है कि "व्यक्ति" मुख्य बात है। इसी के लिए समाज है। व्यक्ति का पोषण करने के लिए ही समाज बना है। दूसरे वे लोग हैं जो समाज को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। इनका कहना है कि आखिर व्यक्ति के सभी व्यवहार समाज पर निर्भर हैं इसलिए समाज को शक्तिशाली बनाना ठीक है। यहाँ तक कि व्यक्ति की यदि उपेक्षा भी हो गई तो कोई हर्ज नहीं। इनके मत में प्रत्येक प्रश्न पर समाज का ही विचार करके चलना चाहिए, व्यक्ति का नहीं। इन दो दृष्टिकोणों के कारण पश्चिमी राष्ट्रों ने स्वयं को दो विचारधाराओं के खेमों में बाँट भी लिया है। किन्तु ये दोनों विचार एकांगी हैं, पूर्ण सत्य नहीं हैं। पहली श्रेणी के विचारक यदि व्यक्ति के विकास की स्वतंत्रता के नाम पर समाज की अवहेलना करते हैं तो दूसरे समाज को ही सर्वशक्तिसम्पन्न बनाने की धुन में व्यक्ति की बहुकलात्मक विविधता से हाथ धो लेते हैं। व्यक्ति और समाज के वर्चस्व का यह विवाद वास्तव में एक ही प्रकार की चिन्तन–पद्धति के दो छोर हैं। दोनों छोर की खींचतान में प्राप्त होता है केवल तनाव। एक में समाज की कीमत पर व्यक्ति बढ़ता है तो दूसरे में समाज को मजबूत करने के लिए उस व्यक्ति को ही दबा दिया जाता है जिसके नाम पर शक्ति अर्जित होती है।

ये दोनों एकांगी विचार मनुष्य को वास्तविक सुख पहुँचा पाने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं। इसलिए आवश्यकता है कि इनके बीच से कोई मध्यम मार्ग खोजा जाय जो इन दोनों का गुणात्मक समन्वय स्थापित कर सके; ऐसा समन्वित विचार जहाँ व्यक्ति अपना निजी विकास करते हुए समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सके और परिपूर्ण समाज व्यक्ति–व्यक्ति के बीच सामंजस्य निर्माण करता हुआ उन्नत, प्रगतिशील, पुष्ट हो सके।

इस दृष्टि से भारतीय व्यक्ति तथा समाज–रचना का उदाहरण विश्व में अद्वितीय है। भारतीय रचना में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को परस्पर संघर्ष के आधार पर नहीं देखा गया। इनमें अभिन्नता आंकी गई। इस नाते परस्पर आवश्यकताओं की पूर्ति के अगणित क्षेत्र खुल गये। अनेक संस्थाओं का जन्म हुआ। समाज की आवश्यकता की पूर्ति में प्रत्येक व्यक्ति योग्य सहकार्य दे सके और साथ ही स्वयं का विकास कर समाज सेवा के लिए अधिकाधिक समर्थ हो सके। इस दृष्टि से भारत में वर्ण–व्यवस्था की स्थापना हुई। समाज की आवश्यकताओं का विचार हुआ। समाज को अनेक प्रकार की आवश्यकताएँ रहती हैं। बौद्धिक आवश्यकताएँ हैं। आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार की सुरक्षा का प्रश्न है; आजीविका का सवाल है; वस्तुओं के उत्पादन, वितरण, संरक्षण वाली बात है। ऐसी अनेक सामाजिक आवश्यकताओं के बीच सबसे बड़ी आवश्यकता यह भी है कि लोगों को सोचने–विचारने के लिए यथेष्ट अवकाश भी प्राप्त हो ताकि चिन्तन का स्तर भी ऊँचा उठता रहे। इस प्रकार समाज में ज्ञान– वृद्धि, संरक्षण, भरण–पोषण और चिन्तन के लिए अवकाश प्राप्ति की दृष्टि से लोगों को कुछ कार्य सौंपे गये। भिन्न–भिन्न प्रकार के वर्गों की रचना की गई। सबको अलग–अलग प्रकार की जिम्मेवारियाँ सौंपी गईं। जैसे आठ–दस दिन के किसी शिक्षा वर्ग में उत्तम शिक्षा की दृष्टि से विभिन्न विभाग स्थापित किये जाते हैं, विभागों में जिम्मेवारियाँ बाँट ली जाती हैं ताकि प्रत्येक कार्य ठीक समय पर उत्तम ढंग से सम्पन्न हो। यह नहीं होता कि सब लोग एक ही प्रकार का कार्य करने लग जावें। भोजन, पानी, रक्षा, कार्यालय, सफाई, बौद्धिक, शुश्रूषा, निवास, खेलकूद आदि कितने ही प्रकार के कार्य एक साथ सम्पन्न होते रहते हैं। इनमें से एक में भी यदि अव्यवस्था हो तो काम नहीं चल सकता। ठीक उसी प्रकार व्यक्ति के विकास और उसकी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत में अति प्राचीन काल से जो व्यवस्था चली आ रही है वह वर्ण–व्यवस्था है। यह व्यवस्था इसी आधार पर निर्मित हुई थी कि अपने गुण–कर्मों के अनुसार लोग समाज की सेवा कर सकें। व्यक्ति के अन्दर जो श्रेष्ठताएँ हैं उनका विकास हो और व्यक्ति के विकसित होने की प्रक्रिया में समाज भी दो कदम आगे बढ़े। इसी के व्यावहारिक रूप को वर्ण– व्यवस्था कहा गया। व्यक्ति को जीवन–ध्येय मिला और

समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति भी हुई।

समाज की रक्षा का प्रश्न आया तो जिनमें पौरुष–पराक्रम है, बल है वे लोग स्वाभाविक रूप से आगे आये। समाज में ज्ञान–विज्ञान की प्रगति के लिए वे लोग तैयार हुए जो तपश्चर्या, ज्ञान, साधना के क्षेत्र में निपुण रहे। कला–कौशल के जानकार, वाणिज्य–व्यापार की वृद्धि वाले और कृषि, गोरक्षा में चतुर लोग समाज को सम्पन्न बनाकर भरण–पोषण का दायित्व निभाने को सन्नद्ध हुए। जो लोग इनमें से कुछ भी नहीं कर सकते थे वे भी समाज के लिए उपयोगी बने। उन्होंने उस सेवा का व्रत लिया कि जिससे समाज के प्रत्येक व्यक्ति को चिन्तन के लिए पर्याप्त अवकाश मिल सके। समाज की छोटी–मोटी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व उन्होंने उठा लिया। इनमें कोई छोटा–बड़ा नहीं। समाजरूपी इस विराट् पुरुष के विभिन्न अंग होने के नाते सभी आवश्यक और आदरणीय हैं। वह मूर्ख ही कहा जावेगा जो सम्पूर्ण शरीर के विभिन्न अंगों में से कुछ को श्रेष्ठ और कुछ को नगण्य बताये। इस अग–अंगी भाव में प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, संघर्ष के लिए स्थान ही नहीं। कोई अंग केवल अपने ही भरोसे पर स्वयं पूर्ण नहीं हो सकता। परस्परावलम्बी अथवा अधिक योग्य शब्द में कहना हो तो परस्परानुकूल यह व्यवस्था भारत में निर्माण हुई। एक अत्यन्त वैज्ञानिक शास्त्र–शुद्ध सामाजिक स्वरूप इस प्रकार भारत में विकसित हुआ।

निस्संदेह शताब्दियों के लम्बे कालखण्ड में सामाजिक उत्थान–पतन के थपेड़ों के कारण यह व्यवस्था कमजोर हुई है। परकीय आक्रमणों और सदियों की गुलामी के कारण भी समाज–जीवन अस्त–व्यस्त हुआ है। परकीय समाज के अंधानुकरण से कई बेमेल और हास्यास्पद बातें इसमें घुसी हुई दिखाई पड़ती होंगी। इस व्यवस्था के अन्दर बुराइयाँ खोजने वाले ऐसा सोचते होंगे कि इस व्यवस्था को ही समाप्त कर देना चाहिए। इसे समाप्त करने का कारण यह बताया जाता है कि इससे व्यक्ति–व्यक्ति में भेद उत्पन्न हो गये हैं। ऊँच–नीच का भाव आ गया है। कहा जाता है कि यदि भेदभाव समाप्त करना है तो इस व्यवस्था को ही समूल नष्ट कर देना होगा।

अब यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या व्यवस्था समाप्त करने से भेद मिट सकेंगे और भेद मिटाकर जो कुछ हम बनाना चाहते हैं उसके लिए कोई व्यवस्था क्या जरूरी नहीं होगी? आखिर व्यवस्था तो एक प्रकार की रचना ही है। भेद निर्माण होना एक खराबी है जो दृष्टि पर निर्भर करती है। व्यवस्था की ओर देखने का तरीका यदि ठीक नहीं रहा तो भेद उत्पन्न किये जा सकते हैं। दृष्टि–दोष उत्पन्न होने से किसी अच्छी से अच्छी व्यवस्था में भी भेद पनपते हैं। दृष्टि–दोष दूर होने से भेद क्षीण होते हैं और मिटते हैं। दोषों को ठीक–ठीक पहचान कर दवा देना

जा सकता हैं विकृतियों को हटाया जा सकता है। उसका विचार करना भी आवश्यक होता है। किन्तु दोषों और विकृतियों को हटाने के नाम पर सम्पूर्ण व्यवस्था को ही नष्ट करने की बात करना क्या बुद्धिमानी कही जावेगी? रोग नष्ट करने के लिए कोई वैद्य रोगी को ही समाप्त करने की बात कहे तो क्या बुद्धिमानी होगी?

वास्तव में आपसी तनाव और संघर्ष पैदा होने के लिए बड़ी मूलगामी बातें कारण नहीं बनतीं। झगड़े तो छोटी-छोटी बातों पर ही होते रहते हैं। लड़ना-झगड़ना यदि स्वभाव बने तो किसी भी अच्छे से अच्छे आधार का बहाना बनाकर लड़ा-झगड़ा जा सकता है। इस कारण एक सिरे से सब प्रकार के आधार हम नष्ट करते जाएँ तो कहाँ पहुँचेंगे। इस पद्धति से क्या भेद दूर होंगे। लोग मुर्गे लड़ाते हैं। आधार है मुर्गा। यदि कोई कहे कि न मुर्गे होंगे न लड़ाई होगी इसलिए जितने मुर्गे हैं उन सबको नष्ट कर दो। तो क्या लड़ने वाले बाज आयेंगे? वे अन्य किसी बात को आधार बनाकर झगड़ना शुरू कर देंगे। भेद निर्माण करने के लिए किसी भी आधार का दुरुपयोग हो सकता है। मुर्गे नहीं तो लोग भेड़ें भी लड़ा सकते हैं और सांड़ों की लड़ाई का आनन्द ले सकते हैं। पहलवान भी टकरा सकते हैं। कंबूतर, तीतर यहाँ तक कि निर्जीव पतंगें भी लड़ाई जा सकती हैं। लड़ने वालों को कोई कमी है? बात-बात पर झगड़ा निर्माण किया जा सकता है। इसलिए भेद अथवा विकृतियों को दूर करने के लिए व्यवस्था को ही समाप्त करने की बात मूर्खतापूर्ण है। सोचने का यह तरीका गलत है।

एक स्कूल का उदाहरण लें। विद्यालय का कार्य है शिक्षा देना। इसकी एक व्यवस्था है। चपरासी से लेकर व्यवस्थापक तक कार्य बँटे हुए हैं। शिक्षा प्रदान कर लोगों को ज्ञानवान बनाने के लिए यह व्यवस्था आवश्यक है। अब, जैसा कि आजकल होता है- हड़ताल, धरना, तोड़फोड़, उपद्रव होते हैं। इन्हें दूर करने के लिए कोई यदि कहे कि कुछ नहीं विभिन्न कक्षाएँ बन्द कर दो, विभिन्न उत्तरदायित्व के अंग सुन्न कर दो। बस केवल एक कक्षा, एक पुस्तक, एक छप्पर रखो और सब विभाग बन्द कर दो। व्यवस्था को ही भेद का कारण मानकर यदि सब व्यवस्था बन्द कर दी तो उस विद्यालय की क्या स्थिति होगी? और क्या उस स्थिति में भी शांति रहेगी? अशांति के लिए कुछ भी कारण खोजे जा सकते हैं। इसलिए व्यवस्था को भेद का कारण मानना ही बड़ी भूल है। सही बात तो यह है कि भेद और संघर्ष के आधार पर कोई व्यवस्था खड़ी नहीं हो सकती और जिसे हम व्यवस्था कहते हैं उसमें भेद करने के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। भेद अथवा संघर्ष, व्यवस्था के कारण नहीं विकृतियों के कारण होते हैं। विकृतियों को हटाने के लिए व्यवस्था नष्ट करना यह ठीक नहीं किन्तु व्यवस्था ठीक करना ही एकमेव मार्ग है। मूल

व्यवस्था में दोष नहीं रहता, सहकार्य अपेक्षित रहता है। दोष लोगों की प्रवृत्ति में आता है। प्रवृत्ति खराब होने से व्यवस्था का पालन ठीक नहीं हो पाता।

इसलिए व्यवस्था के बारे में हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक व्यवस्था के दो रूप सदैव रहते हैं- एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य। आन्तरिक भावना और बाह्य ढाँचा प्रत्येक अवस्था में होते हैं। बाह्य ढाँचा चाहे जितना अच्छा हो और समयानुसार उसमें चाहे जितने परिवर्तन करने के यत्न हों, ढाँचा ढाँचा ही रहेगा। बाहरी स्वरूप पर कोई वस्तु टिक नहीं सकती। वस्तु की धारणा तो उसमें निहित अन्तःतत्त्व के कारण होती है। आन्तरिक भावना अथवा शक्ति ही बाहरी ढाँचे को टिकाये रखने का कारण बनती है। यदि यह अन्दर की चीज नहीं रही, भीतर व्याप्त यह सूक्ष्मतत्त्व यदि ओझल हो गया तो विश्व की कोई भी शक्ति बाहरी ढाँचे की रक्षा नहीं कर सकती। इसलिए प्रत्येक व्यवस्था में निहित इस आन्तरिक भावना की सावधानी से रक्षा करनी होती है। बाहरी ढाँचा बिलकुल निरुपयोगी हो सो बात नहीं है। आन्तरिक तत्त्व को प्रकट होने के लिए कोई न कोई बाह्य स्वरूप जरूरी होता ही है। फिर भी मुख्य बात है आन्तरिक। ऊपर हमने विद्यालय का उदाहरण लिया है। उसी के अनुसार सोचें। विद्यालय चलाना है इसलिए हम यदि अच्छा भवन बना लें। कक्षाएँ शुरू कर दें। विज्ञान की प्रयोगशालाएँ स्थापित कर दें। प्रधानाध्यापक, शिक्षक आदि के कमरे निश्चित कर दें। समय चक्र निर्धारित कर दें। विद्यार्थियों के लिए समय, विषय, कक्षा आदि सभी बाहरी ढाँचा पूर्ण कर लें। तब भी क्या विद्यालय ठीक चल पायेगा? इतना होने के बाद भी जिस एक बात की जरूरत होगी वह है शिक्षक, सेवक और विद्यार्थी के बीच शिक्षा की इच्छा। अध्यापकों में यह आन्तरिक अभिलाषा होना कि विद्यार्थियों को उत्तम शिक्षा प्रदान करूँगा और विद्यार्थियों में यह इच्छा होना कि हम अच्छी से अच्छी ज्ञान-विज्ञान की बातें सीखेंगे, जरूरी है। यह इच्छा है जो किसी थर्मामीटर से न नापी जा सकती है और न किसी दूरबीन से देखी जा सकती है फिर भी उसका होना जरूरी है। इस आन्तरिक इच्छा का अनुभव जितने प्रमाण में उस विद्यालय में होगा उतना ही वह बाहरी ढाँचा कार्यक्षम होगा। आन्तरिक इच्छा न हो तो बाहरी ढाँचा चार कौड़ी का भी नहीं; एकदम व्यर्थ प्रतीत होगा। केवल बाहरी और औपचारिक ढंग से मिलने-जुलने, अभिवादन करने, प्रेम का प्रदर्शन करने मात्र से काम नहीं चलेगा। आन्तरिक शक्ति ही मुख्य शक्ति है। व्यवस्था कोई भी हो उसका यह आन्तरिक पक्ष महत्त्वपूर्ण होता है।

परमात्मा द्वारा निर्मित इस मानव शरीर को ही देखें तो व्यवस्था सम्बन्धी यह तथ्य स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता। शरीर का बाहरी ढाँचा किस आधार पर टिका है? प्रकृति ने अपनी सम्पूर्ण बुद्धि कुशलता खर्च कर मानव शरीर रूपी यह उत्कृष्ट यन्त्र

निर्माण किया है। शरीर की विभिन्न क्रियाएँ प्रतिक्षण होती रहती हैं जिन्हें हम बाहरी अंगों के संचालन के रूप में देख पाते हैं। शरीर की सभी आवश्यकताएँ प्रतिक्षण पूरी की जा रही हैं। खाना–पीना, चलना–बोलना, हाव–भाव, सुख–दुख की अनुभूतियों के कितने ही कार्य हो रहे है। किन्तु प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए योग्य दृष्टि और उचित मार्ग का संचालन कौन कर रहा है? पसीना निकलता है। कितना निकलना चाहिए? पसीने के साथ शरीर से कई प्रकार की अवांछित चीजें बाहर जा रही हैं। इनका प्रमाण कौन तय करता है? और फिर कभी–कभी शरीर क्षीण पड़ता है तो वास्तव में कौन सा तत्त्व है जो क्षीण पड़ गया है? हम कहते हैं कि वह प्राण–तत्त्व है। प्राण ही शरीर में विराजमान होकर इस बाहरी ढाँचे को संचालित कर रहा है। इस प्राण तत्त्व की धारणा करना ही सम्पूर्ण व्यवस्था के रहस्य को पहिचानना है। यही आन्तरिक पक्ष की महत्ता है।

इस प्रकार व्यवस्था कोई भी हो उसका आन्तरिक पक्ष महत्त्वपूर्ण होता है। किसी भी व्यवस्था को समझाने का अर्थ है उसका आन्तरिक भाव पहचानना। यह आन्तरिक भाव ही मुख्य चैतन्य का कारण है। इसलिए लोग अब पूछते हैं कि भारत की वर्ण–व्यवस्था यदि इतनी श्रेष्ठ और पूर्ण थी तो भारत का पतन फिर क्यों हुआ? प्राचीन काल में यदि वर्ण–व्यवस्था से समाज को पूरा–पूरा लाभ था तो बुराइयाँ क्यों कर उत्पन्न हुई? तब इसका अर्थ सम्पूर्ण व्यवस्था को खराब मानना नहीं हो सकता और न ही सम्पूर्ण व्यवस्था को नष्ट करना ही उसका उपाय हो सकता है। व्यवस्था के आन्तरिक भाव में आई क्षीणता ही इसका असली कारण गिना जावेगा। इस क्षीणता को हटाने के लिए आवश्यक है कि हम अधिक तन्मयता के साथ उस व्यवस्था के आन्तरिक चैतन्य को जाग्रत करने का यत्न करें। प्राण जगा पायेंगे तो विकृतियाँ पलक मारते भाग खड़ी होंगी, शरीर स्वस्थ होगा और बाह्य ढाँचा भी कार्यक्षम दिखाई पड़ने लगेगा।

इसलिए विश्व में प्रचलित सामाजिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में विचार करते समय जब हम अपने देश की संस्कृति, सभ्यता का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तब हमें गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिए कि वर्ण व्यवस्था के नाम से जिस सामाजिक रचना का अधिष्ठान हमारे देश में निर्माण किया गया उसका मूल अन्तर्भाव क्या है? वह अधिष्ठान आज भी हमें किस प्रकार उपयोगी हो सकता है? विकृतियों को दूर कर यदि हम उसका वास्तविक स्वरूप स्वीकार करें तो वह आज भी विश्व की श्रेष्ठतम मानव रचना में कौन–सा स्थान ले सकती है?

सर्वप्रथम हम आज की परिस्थिति का विश्लेषण करें। प्रत्येक मनुष्य की सामाजिक निर्भरता से इनकार नहीं किया जा सकता। व्यक्ति का जीवन समाज पर निर्भर है। इस निर्भरता के कारण व्यक्ति के भीतर एक प्रकार की निराशा सी छा

जाती है। व्यक्ति सोचता है कि वह अकेले कुछ नहीं कर सकता। वह अपने को असहाय अनुभव करता है। व्यक्ति सोचता है कि वह सब भांति परावलम्बित है, उसकी कोई हस्ती नहीं। इस अवस्था में वह अगतिक सा कार्य करता है। व्यक्ति के विकास का उत्साह क्षीण पड़ता है। यह सामाजिक परावलम्बन हटना चाहिए तभी वह विकास कर सकता है। परावलम्बन की अवस्था में तो व्यक्ति सदैव दूसरों का मुँह ताकता रहेगा। यदि वह परिस्थितियों का स्वयं स्वामी नहीं है, उसकी अपनी शक्ति नहीं है तो वह क्योंकर नूतन शोध–बोध के लिए अग्रसर होगा? इसलिए व्यक्ति अपने विकास में स्वयंपूर्ण होना जरूरी है।

व्यक्ति के इस परावलम्बन को दूर करने के लिए भारतीय पद्धति से जो विचार किया गया वह थोड़ा–सा दृष्टिकोण का ही परिवर्तन है। यह सोचने के बजाय कि व्यक्ति परावलम्बित है हमारे यहाँ कहा गया है कि व्यक्ति परस्परावलम्बित है। सभी आपस में एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। इतना ही नहीं हमारे यहाँ परस्पर अवलम्बित होने की भावना से भी ऊपर उठकर यह सोचा गया कि हम आपस में एक दूसरे के अनुकूल हैं। अनुकूलता और अवलम्बन के अर्थ में बहुत बड़ा अन्तर है। अवलम्बन में दीनता है, परस्परावलम्बन में भी निर्भरता है किन्तु अनुकूलता में अपनी शक्ति का समादर है। जैसे पुत्र पिता पर अवलम्बित है। किन्तु पिता भी कई अर्थों में पुत्र पर अवलम्बित है। इतना ही सोचकर व्यवहार करने पर उनमें एक दूरी बनी रहना स्वाभाविक है। किन्तु यदि ऐसा सोचा गया कि पिता और पुत्र दोनों आपस में परस्परानुकूल हैं तो एक का सुख दूसरे का भी होगा। यही परस्परानुकूलता हमारे भारतीय जीवन रचना दृष्टि की विशेषता है।

जिस सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति और व्यक्ति के बीच अर्थात् समाज के व्यवहार में परस्पर अनुकूलता होगी वहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसका सम्मान सुरक्षित होगा। व्यक्ति स्वतंत्र है, इसका अर्थ इस सन्दर्भ में फिर यही हुआ कि वह स्वतंत्र है इस बात के लिए कि वह दूसरों के लिए अनुकूल किस प्रकार बन सकेगा? अपने जीवन में दूसरों के लिए अनुकूल बनने के भाव में स्वयं सक्षम और समर्थ होना आवश्यक होता है। अनुकूल वहीं हो सकता है, जिसकी अपनी सत्ता हो। अनुकूल होने में दूसरे पर अवलम्बित होना नहीं है। अवलम्बन में दीनता और स्वार्थ है। परतंत्रता का भाव है। परस्परानुकूलता में किसी प्रकार की परतंत्रता का भाव नहीं है। दूसरों के प्रति अनुकूल आचरण करने की स्वतंत्रता है। यानी परस्पर अनुकूल बनने में अपना पुरुषार्थ प्रकट होता है। इस प्रकार व्यक्ति में निहित शक्तियों का अधिकाधिक उपयोग कर दूसरों का भला करने की भावना में सतत् विकसित होने का अवसर मिलता है।

परस्परानुकूलता में जो पुरुषार्थ प्रकट होता है वह साधारण बात नहीं है।

यही समाज की धारणा–शक्ति है जिसे हमारे यहाँ धर्म कहा गया है। यानी कर्तव्य का महत्त्व आ उपस्थित हुआ। हमारे वे सभी कार्य जो समाज की धारणा के लिए हों "धर्म" हैं। "धर्म" ही वह सबसे बड़ा पुरुषार्थ है जिस पर समाज के अन्य सभी पुरुषार्थ टिके हैं। व्यक्ति और समाज दोनों के परस्पर सम्बन्धों में स्वतंत्रता की कड़ी बैठाने वाला यह धर्म है। इसीलिए धर्म की व्याख्या करते हुए महाभारतकार ने सार बात बताई कि भाई, धर्म कितना ही गूढ़ हो परन्तु यह सामान्य सी चीज है कि दूसरों को पीड़ा पहुँचाना अधर्म है और दूसरों को आनन्द पहुँचाना धर्म है। यही धर्म है कि हम आपस में अनुकूल बनें। यही व्यवहार, आचरण, चेष्टा, प्रयत्न, चिन्तन, व्यवस्था श्रेष्ठ है जो परस्परानुकूल हो। हम सबका विचार लेकर कार्य करें और सभी इस प्रकार व्यवहार करें तो सुख की वर्षा अवश्य होगी। जैसे हम खो–खो का खेल खेलते समय एक दूसरे को खेलने का अवसर देते हैं तो पूरा खेल आनन्द से भर उठता है। इसके स्थान पर यदि कोई व्यक्ति खो–खो में खेलने का अवसर मिलते ही यह सोचे कि अब अवसर मिला है इसलिए मैं किसी को खो नहीं दूँगा– केवल खुद ही खेलता रहूँगा तो खेल खराब हो जायेगा। वह स्वयं आनन्द नहीं उठा सकेगा और न अन्य खिलाड़ी ही आनन्दित होंगे। एक दूसरे को खो देकर खेलने में आनन्द है। ठीक इसी प्रकार जब हम एक दूसरे के प्रति अनुकूल होकर कार्य करते हैं याने धर्माचरण करते हैं तो सभी आनन्दित होते हैं और उस आनन्द का एक हिस्सा हमें भी मिलता है। हमारा स्वयं का भी विकास होता है। व्यक्ति और समाज दोनों सुखी होते हैं।

परस्परानुकूलता पर आधारित यह व्यवहार–चक्र न केवल सुखद वरन् चैतन्यपूर्ण भी रहता है। इसमें न बोझ की मजबूरी और न मजबूरी की मांग। इसमें न दूसरों के सामने हाथ पसारने की दीनता और न ही अपनी शक्ति स्वतंत्रता–सत्ता को केवल अपने ही लिए बचाये रखने का लालच। इसमें स्वयं अधिकाधिक उपयोगी होने की सात्विक चाह है। यही विशालता है। कहा गया है कि संकुचितता में दुःख और विशालता में सुख है। यह मेरा नहीं समाज का है। इसलिए समाजहित में सब कुछ लगाने के भाव में कृतकृत्यता है, संतोष है। इस संतोष से बढ़कर व्यक्ति को अन्य क्या चाहिए ? अधिकाधिक विकास, अधिकाधिक शक्ति और अधिकाधिक समर्पण यही क्रम है जो व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ प्रदान करता है। यह व्यवहार चक्र सृष्टि के संचालन नियमों के भी अनुकूल है। इसलिए यह सुख कई गुना अधिक बढ़ जाता है। सम्पूर्ण सृष्टि के संचालन का भी यही आधार है। छोटा–सा उदाहरण लें। मनुष्य और वनस्पति के बीच कैसा मधुर आदान–प्रदान चला है। मनुष्य को आवश्यकता है आक्सीजन की जो उसे वनस्पति से प्राप्त होती है। और वनस्पति को जरूरत है कार्बन–डाई–आक्साइड की, जो उसे मनुष्य से मिलती है।

एक दूसरे के अनुकूल यह व्यवस्था है। सृष्टि में कोई कहीं किसी वस्तु को रोक रखने के लिए तैयार नहीं। हर पौधा अपना सब कुछ न्यौछावर कर रहा है और प्रत्येक कण उसे नयी बयार पहुँचाने को तत्पर है। कैसा स्वर्गिक आनन्द छाया है। यह सब परस्परानुकूलता के कारण है। एक दूसरे में विरोध या संघर्ष का तो प्रश्न ही नहीं है। अवलम्बन भी नहीं, निरपवाद रूप से सब कुछ आपस में अनुकूलता से संचालित है। इस प्रकार से सृष्टि संचालन के नियमों से व्यक्ति जब तादात्म्य अनुभव करता है तो सारी सृष्टि ही उसके लिए आनन्दमय प्रतीत होती है। आपस में देना ही जीवन है, रोक रखना मृत्यु है। मृत्यु को छोड़कर हम जीवन का वरण करें। अमरता का वरण करें मृत्यु को जीत लें। इसीलिए भारतीय ऋषि–मुनियों ने इस व्यवस्था को मानने वालों को "अमृतस्य पुत्राः" अमरता के पुत्र कहकर सम्बोधित किया है।

यह है अपने समाज–जीवन की मुख्य आधारशिला। इसी आधार पर हमारे यहाँ सम्पूर्ण मानव–जीवन–रचना की व्यवस्था की गई। वर्ण–धर्म की स्थापना हुई। इस व्यवस्था में व्यक्तियों का, समूहों का, समाज का, राज्य का अथवा अन्य कई प्रकार की सत्ताओं का अलग–अलग और परस्पर विरोधी रूप लेकर विचार नहीं हुआ। पश्चिम ने जिस प्रकार इन सब सत्ताओं को परस्पर विरोधी और आपस में संघर्षयुक्त मानकर विचार किया वैसा भारत में नहीं हुआ। भारत ने माना कि भेद देखना या भेद निर्माण करना गलत है। भेद के आधार पर कोई व्यवस्था नहीं चल सकती। भेद–भावना सृष्टि के नियमों के विपरीत है। यह विनाश का कारण बनेगी, रचना का नहीं। इसलिए जिस वर्ण–व्यवस्था की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं, उसमें समभाव है, भेद–भाव नहीं। सर्व–सम–भाव ही वर्ण–व्यवस्था है। प्रत्येक व्यक्ति तथा व्यक्ति समूह को विकास की स्वतंत्रता और अनुकूल आचरण का दायित्व सौंपकर यह व्यवस्था खड़ी की गई है। ब्राह्मण को सोचना है कि वह सम्पूर्ण समाज में ज्ञान–दान करेगा। उचित संस्कार देगा। ज्ञान–दान के लिए ब्राह्मण को चाहे जितना संयम, साधन, तप, अध्ययन का कष्ट उठाना पड़े वह उसके लिए धर्म ही है। यही है उसके द्वारा होने वाला यज्ञकर्म। यज्ञ को कुछ लोग हवन कुण्ड बनाकर मंत्रोच्चारण के साथ आहुति डालने तक सीमित समझने की भूल करते हैं। यह यज्ञ–विधि है किन्तु यही मात्र यज्ञ नहीं। यज्ञकर्ता का जीवन ही वास्तव में यज्ञकुण्ड है। यज्ञ करते समय कहा जाता है कि "इदं इन्द्राय, इदं न मम" यह जो कुछ मेरा है इन्द्र के लिए है, मेरा नहीं। दूसरों के प्रति मेरे जो कर्तव्य हैं उन्हें पूर्ण करने के लिए जिस परस्परानुकूलता की आवश्यकता है उसी दृष्टि से जीवन में प्रयत्नशील होना यज्ञ है। इस यज्ञ के मूलभाव को स्पष्ट करने वाली एक कथा महाभारत में है। धर्मराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। यज्ञ समाप्त होने पर सभी आनन्दित थे।

सभी मानते थे कि इस यज्ञ से बड़ा कोई दूसरा यज्ञ नहीं हो सकता। पांडव, भगवान कृष्ण और राजागणों के बीच इस यज्ञ की महान उपलब्धियों पर चर्चा चल रही थी कि उसी समय एक नेवला सभामण्डप के बीच में आकर यज्ञस्थल पर लोटपोट होने लगा। नेवला आश्चर्यजनक था क्योंकि उसका आधा शरीर सोने का था। वहाँ उपस्थित सभी लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ कि आखिर इस नेवले का आधा घड़ सोने का क्यों है? इस स्थल पर आकर यज्ञ–भूमि में क्यों घूम रहा है? उत्सुकता बढ़ी तो भगवान कृष्ण ने कहा कि इस नेवले ने इसके पूर्व जो यज्ञ देखा है वह इस राजसूय यज्ञ से भी महान् है। अब तो सभी अचम्भे में पड़ गये कि ऐसा कौन–सा यज्ञ, कब हुआ होगा? आखिर भगवान कृष्ण ने बताया कि एक बार भीषण अकाल पड़ा था। एक ब्राह्मण परिवार उस अकाल में अनेक दिनों से भूखा रह रहा था। एक दिन ब्राह्मण को भिक्षा में किसी स्थान पर थोड़ा सा सत्तू मिल गया। वह प्रसन्नतापूर्वक सत्तू लेकर घर लौटा। ब्राह्मण के घर में उसकी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधू कुल चार प्राणी थे। उसने उस सत्तू के बराबर चार हिस्से किये। सत्तू घोलकर प्रत्येक को दिया और इतने दिनों के बाद यह थोड़ा सा सत्तू पेट में पहुँचने की स्थिति होने के कारण हाथ जोड़कर भगवान को धन्यवाद दिया। भगवान का स्मरण कर वे सत्तू खाने ही वाले थे कि द्वार पर एक भूखा अतिथि आ खड़ा हुआ। कई दिनों से उसके भी पेट में अन्न का दाना नहीं पहुँचा था। ब्राह्मण ने अपना हिस्सा उसे भेंट कर दिया। किन्तु उस अतिथि की भूख इतनी अधिक थी कि वह और अधिक मांग बैठा। तब ब्राह्मणी ने और फिर पुत्र और पुत्रवधू ने भी अपना–अपना हिस्सा बारी–बारी से उस अतिथि को भेंट कर दिया। अतिथि संतुष्ट होकर चला गया। यह देखकर ये चारों प्राणी अत्यन्त आनन्दित हुए। किन्तु भूख के कारण उन चारों ने प्राण त्याग दिये। जिस स्थान पर सत्तू खाकर अतिथि ने पानी पिया था वहाँ जूठे पानी की कुछ बूँदे गिरी थीं। यह नेवला सत्तू की सुगन्ध में सूंघता हुआ जब उन बूँदों पर से निकला तो उन बूँदों के स्पर्श से इसका आधा शरीर सोने का हो गया। तब से यह नेवला यज्ञस्थलों पर जाकर प्रयत्न करता है कि कोई वैसा ही श्रेष्ठ यज्ञ हो तो उसके स्पर्श से उसका बचा हुआ घड़ भी सोने का हो जाय। अब इस नेवले को इस यज्ञ में भी निराशा मिली क्योंकि राजसूय यज्ञ उतना श्रेष्ठ नहीं निकला जितना उस ब्राह्मण परिवार ने यज्ञ सम्पन्न किया था। इस कहानी से यज्ञ की मूल भावना का स्पष्टीकरण भलीभाँति होता है। अपने कर्तव्य कर्म के लिए सर्वस्व अर्पित करने की भावना ही मुख्य बात है। यह परस्परानुकूलता का आधार है। इसे ही त्याग कहा जाता है। केवल छोड़ देना त्याग नहीं है। दूसरों को सुख पहुँचाने की दृष्टि से किया गया कार्य ही त्याग है। यह यज्ञ याने त्याग ही भारतीय संस्कृति की विशेषता है। ऐसा त्यागमय जीवन स्वीकार करने वाला ब्राह्मण, समाज के लिए ज्ञानदान का

व्रत स्वीकार करता था। इसी प्रकार शेष सभी वर्णों के कर्त्तव्य–कर्म निर्धारित हुए और यह यज्ञ भावना से वे सम्पादित हुए। यही भारतीय जीवन–रचना का स्वरूप है।

इस व्यवस्था को यदि हम पश्चिम की आँखों से देखेंगे तो कुछ भी समझ में आना कठिन है। आज वर्ण–व्यवस्था में कई विकृतियाँ आई होंगी और उन विकृतियों को दूर भी करना होगा। किन्तु जहाँ तक इसकी मूल भावना का प्रश्न है यह पश्चिम की दृष्टि से देखी–समझी नहीं जा सकती। पश्चिम ने तो समाज–रचना के आधार में प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता को ही प्रमुख माना है। स्वार्थपूर्ण संघर्ष को मानव की मूल प्रवृत्ति मानकर चारों ओर के ढाँचे में कभी न समाप्त होने वाली प्रतिस्पर्धा को ही वहाँ प्रगति का मापदण्ड समझा गया है। निरन्तर और हर स्तर पर संघर्ष की कल्पना ही पाश्चात्य जीवन–दर्शन का आधार है। इसलिए वहाँ परस्परानुकूलता का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता परावलम्बन भी तब तक है जब तक स्वार्थ है। संघर्ष में जो जितना सशक्त है वह उतना ही जीवित रहने का अधिकारी है। इसलिए वहाँ चार लोग यदि एकत्रित भी आते हैं तो केवल इसीलिए कि संघर्ष में उन्हें सबकी मिलकर शक्ति चाहिए। अकेला व्यक्ति ठीक प्रकार से संघर्ष नहीं कर पाता इसलिए चार व्यक्ति मिलकर शक्ति अर्जित करेंगे। जो वर्ग बनेंगे वे भी आपस में लड़ने के लिए ही बनेंगे। वहाँ के ट्रेड यूनियन्स इसीलिए बने हैं ताकि स्वार्थों का संरक्षण कर सकें। भारत में वहाँ जैसे ट्रेड यूनियन्स नहीं बने। विभिन्न व्यवसाय करने वाले, भारत में, जातियों के आधार पर गिने जाते हैं, भारत में जाति व्यवस्था रही। लोहार, चमार, नाई, बढ़ई, काछी, माली आदि कितनी ही प्रकार की जातियाँ बनीं। ऊपर से देखने में ऐसा ही कहा जावेगा कि ये भी ट्रेड यूनियन्स ही थीं। किन्तु पश्चिम से इनमें जमीन–आसमान का अन्तर था। इनमें परस्पर संघर्ष, प्रतियोगिता, प्रतिस्पर्धा नहीं पूरकता, सामंजस्य और सहयोग था। एकात्मता थी। समाज सेवा के लिए ही सबका योगदान रहा है। आज की विकृत और शिथिल व्यवस्था में भी हम इन जातियों के इस परस्पर सहकार्य की भावना को देख सकते हैं। अनेक जातियाँ होते हुए भी सब एक ही व्यवस्था की अंग थीं। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग होते हुए भी सबका कार्य–उद्देश्य एक ही रहता है। ऐसा नहीं होता कि अंग आपस में टकराने लगें। होड़ लगायें और जो सबमें शक्तिशाली हो वही जीवित रहे। इस सम्बन्ध में एक रोचक कहानी भारतीय समाज में प्रचलित है। कथा है कि एक बार शरीर के विभिन्न अंगों में संघर्ष छिड़ गया। हाथ, पैर, नाक, आँख, मुँह यहाँ तक दांत, जीभ आदि सभी उपांग अपना–अपना महत्त्व बखान करने लगे। प्रत्येक अंग की गर्वोक्ति थी कि उसके बिना शरीर का काम नहीं चल सकता। हर एक अपने को सर्वश्रेष्ठ मानकर बारी–बारी शरीर में से विदा होता गया। हाथों ने

काम करना बन्द कर दिया। शरीर को कष्ट हुआ किन्तु किसी प्रकार काम चल गया। हाथों ने सोचा कि शरीर तो उनके बिना भी काम चला ले गया। हाथों ने हार मान ली। इसी प्रकार बारी–बारी प्रत्येक अंग ने अपनी शक्ति आजमा ली और फिर भी किसी न किसी प्रकार शरीर का काम न रुकता मानकर समझ गये कि शरीर से अलग उनकी कोई सत्ता नहीं है। किन्तु इस झगड़े में शरीर की जो फजीहत हुई उस कारण प्राण देवता कहने लगे कि लो! इस बार मैं चला। प्राण ने चलने की तैयारी की तो सब अंग शिथिल पड़ने लगे– आँखों के सामने अंधेरा छाने लगा, पैर लड़खड़ाने लगे, हाथ लूले पड़ गये, साँस रुकने लगी। भारी संकट उपस्थित हो गया तो सभी अंग प्राण से कहने लगे कि भाई, तुम जाने की तैयारी न करो। तुम्हारे बिना तो हम एक क्षण भी नहीं रह सकते। तात्पर्य यह कि शरीर के विभिन्न अंगों में आपसी सामंजस्य है इसलिए शरीर की सब आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। इन अंगों में परस्पर संघर्ष की कल्पना मूर्खता है। ये परस्पर पूरक ही नहीं, एक हैं। शरीर में एकात्मता है अलग–अलग स्वार्थ और उससे उत्पन्न होने वाली प्रतियोगिता के कारण उनका संचालन नहीं होता। एक ही शरीर के विभिन्न अंग होने के नाते सब अलग–अलग होते हुए भी एक हैं। वे सब अविच्छिन्न, अभेद्य हैं। उनकी एकात्मता का कारण है 'प्राण'। यही प्राण सब की धारणा करता है। ठीक उसी प्रकार समाज शरीर में भी एक प्राण होता है। इस प्राण की रक्षा करनी पड़ती है। प्राण को बलवान बनाना पड़ता है। प्राणायाम करना होता है। राष्ट्र की प्राण–रूप इस एकात्म भावना का भी यही महत्त्व है। राष्ट्र की एकात्म शक्ति को ठीक प्रकार से संजोकर चलते गये तो समाज शरीर के सभी प्रकार के भौतिक और आध्यात्मिक सुख सुलभ प्राप्त हो जावेंगे।

सम्पूर्ण समाज की इतनी सुन्दर, सुखद, सर्वांगपूर्ण व्यवस्था कर आर्य ऋषियों को जो आनन्द प्राप्त हुआ उसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि हजारों मस्तक, हजारों बाहु, हजारों नेत्र, हजारों उदर, हजारों जांघें और हजारों पैरों वाला एक पुरुष पृथ्वी पर चारों ओर फैला हुआ है। ज्ञानी मनुष्य इसके मुख है। शूरवीर बाहु हैं, किसान और व्यापारी इसके उदर तथा जांघें हैं, कारीगर इसके पैर हैं। ज्ञानी, शूर, व्यापारी और शिल्पी मिलकर एक देह हैं। एक देह में जिस प्रकार एकात्मता होती है, वैसी एकात्मता इस जनतारूपी पुरुष में होनी चाहिए–

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्।।
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भयां शूद्रो अजायत।। ऋक्० १०/९०

इसलिए समाज के विभिन्न वर्गों में संघर्ष, भेद, प्रतिस्पर्धा नहीं सामंजस्य है। वर्ण–व्यवस्था में भी जो लोग भेद देखते हैं, वे सचमुच कुछ नहीं देखते। वर्ण, भेद नहीं व्यवस्था है। इसमें छोटा–बड़ा, ऊंच–कनिष्ठ आदि सोचना भूल करना है। एकात्मता के आधार पर सब अपना कार्य करें तो सुख की सिद्धि होगी। गीता में कहा है कि–

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

और

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

इस प्रकार भारतवर्ष में व्यक्ति और समाज की सर्वांगीण प्रगति तथा ऐहिक, पारलौकिक सभी सुख प्राप्त करने के लिए वर्ण–व्यवस्था की रचना हुई। यही आज तक की समस्त रचनाओं में श्रेष्ठ रचना है। इस रचना में जो विकृतियाँ आ गई हों उन्हें दूर हटाकर इसका वास्तविक स्वरूप आकलन करना ही योग्य और श्रेयस्कर है।

☆

१३

दोउन राह न पाई

दोउन राह न पाई

यद्यपि भारत में समाजवादी विचार और समाजवादी पार्टियां उस समय से ही विद्यमान हैं जब से यूरोपीय विचारों ने यहाँ के शिक्षित लोगों को प्रभावित करना प्रारम्भ किया, तथापि सैद्धान्तिक रूप में समाजवाद यहाँ के निवासियों के राजनीतिक या सामाजिक जीवन में अपना कोई विशेष स्थान नहीं बना सका। परन्तु, कांग्रेस के आवडी अधिवेशन के पश्चात्, जिसमें कांग्रेस ने समाजवादी–समाज–रचना को अपना अन्तिम लक्ष्य घोषित किया, स्थिति बदल गई। जहाँ तक जनसाधारण का प्रश्न है, वह आज भी उससे उतनी ही दूर है। कांग्रेस द्वारा समाजवाद के लक्ष्य को अपनाये जाने के बाद भी यह जनता का हृदय स्पर्श नहीं कर पाया है। जनता उसके प्रति उत्साहित नहीं है। परन्तु, ऐसा समझा जाने लगा है कि सरकार की नीतियां उसी के अनुरूप ढलती जा रही हैं और इस कारण जो सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने का विचार करते हैं उन्हें अवश्य ही चिन्ता हो गई है। आज इस विचारधारा के अनुयायियों की संख्या के अनुपात में इसे कहीं अधिक महत्व प्राप्त हो गया है। साथ ही प्रधानमन्त्री की बहु–प्रचारित लोकप्रियता और सम्मान के कारण कुछ समय के लिए तो ऐसा लगने लगा है मानो समाजवाद यहाँ की जनता का सर्वप्रिय जीवन–दर्शन हो गया हो। आज अपने आप को समाजवादी कहना, एक फैशन–सा हुआ लगता है। प्रवाह के समय में बहने वाली राजनीतिक पार्टियों में तो इस बात की होड़ सी लगी है कि उनमें से कौन अपने को समाजवाद का बड़ा पुरस्कर्ता सिद्ध कर सकता है। हिन्दू महासभा भी हिन्दू समाजवाद की बातें करने लगी है। वैदिक विचारकों ने भी पुराना साहित्य कुरेद कर 'वैदिक समाजवाद' की नई खोज कर डाली है। यह सब बिना यह समझने का कष्ट किये ही हो रहा है कि आखिर समाजवाद क्या वस्तु है और इस नारे के पीछे कौन सी राष्ट्रघाती प्रेरणाएँ काम कर रही है ?

इस देश में समाजवाद का नारा बुलन्द करने वाली प्रथम पार्टी कांग्रेस नहीं है। कांग्रेस द्वारा समाजवाद स्वीकार किये जाने के पूर्व भी यहाँ समाजवादी पार्टियाँ

थीं और आज भी हैं। विभिन्न समाजवादी पार्टियों के असन्तुष्ट लोग भी अपने को समाजवादी ही कहते हैं। इतना ही नहीं, उनका तो दावा यह होता है कि वे जिस समाजवाद को मानते हैं वही अधिक शुद्ध है। इस स्थिति ने समाजवाद के बारे में और भी अधिक भ्रम बढ़ा दिया है। यूरोप में वैसे भी समाजवाद के अनेक प्रकार विद्यमान हैं। रूजवेल्ट, हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन सभी अपने आपको समाजवादी कहते थे। ऐसे भी लोगों की कमी नहीं, जिन्होंने स्वयं प्रत्यक्ष राजनीति से दूर रहने के बाद भी अनेक प्रकार के समाजवादी सिद्धान्तों की रचना कर डाली है। भारत में इन सभी प्रकार के समाजवादी पन्थों के अनुयायी विद्यमान हैं। कुछ इस प्रकार के भी प्रयास यहाँ होते रहे हैं जिसमें यूरोपीय समाजवाद को भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक जीवन के अनुरूप ढाल कर स्वीकार करने का आग्रह रहा हो।

बाबू जयप्रकाश नारायण आज भी समाजवादी बने हुए हैं। एम० एन० राय ने अपने जीवन के अन्तिम काल में समाजवाद का पूर्णतः त्याग कर दिया था तथापि मृत्यु के समय में भी वे रेडिकल सोशलिस्ट ही कहलाये। उन राजनीतिज्ञों के साथ–साथ जो बिना समझे–बूझे किसी भी समय कोई भी बात कह सकते हैं, अन्य सिद्धान्तवादी और राजनीतिज्ञों ने भी इस समाजवाद के बारे में ऐसी धारणाएं पैदा कर दी हैं कि लोग यही नहीं समझ पाते हैं कि वे हैं कहाँ पर।

एक बार ऐसा व्यंग्य किया गया था कि समाजवाद कोई जीवन–दर्शन नहीं अपितु एक अटपटी वृत्ति मात्र है। यदि हम समाजवादियों के विचारों का विश्लेषण करें तो बहुत अंशों तक यह उक्ति सही प्रतीत होगी। सभी समाजवादियों की यह एक सर्वमान्य अभिलाषा है कि साधारण मनुष्य का जीवनस्तर उठाया जाय। वे उन लोगों के विरुद्ध जिन्हें वे कामचोर मानते हैं या मजदूरों के उचित लाभांशों की प्राप्ति में बाधक समझते हैं, मेहनतकश मजदूरों का पक्ष ग्रहण कर लेते हैं। कुछ लोग स्वामी विवेकानन्द को भी समाजवादी घोषित करते हैं चूंकि उन्होंने पीड़ित, शोषित मानवता के प्रति सहानुभूति की आवाज उठाई थी। एक भाषण में उन्होंने कहा भी था कि "मैं भी एक समाजवादी हूँ। इसलिए नहीं, कि समाजवाद कोई पूर्ण दर्शन है, अपितु इसलिए कि मैं समझता हूँ कि भूखे रहने की अपेक्षा एक कौर मात्र प्राप्त करना भी अच्छा है। सुख–दुख का पुनर्विभाजन सचमुच ही उस स्थिति से अधिक श्रेयस्कर होगा जिसमें निश्चित व्यक्ति ही सुख या दुःख के भागी होते हैं। इस कष्टपूर्ण संसार में प्रत्येक को अच्छा दिन देखने का अवसर मिलना ही चाहिए।" बुभुक्षितों के प्रति हार्दिक सहानुभूति और समाज में उन्हें समान स्तर और सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करा देने की उनके जैसी इच्छा हृदय में रखने वाले कितने ही समाजसेवी व्यक्ति आज भी विद्यमान हैं।

उनकी सदिच्छा सराहनीय है। इस दुःख और कष्टों से परिपूर्ण विश्व में असमानता, अन्याय, दुःख, कष्ट, उत्पीड़न, प्रताड़न, दासत्व, शोषण, क्षुधा और अभाव को देखकर कोई भी व्यक्ति जिसे मानवीय अन्तःकरण प्राप्त है, अपने पीड़ित बन्धुओं के प्रति आत्मीयता की वृत्ति अपनाये बिना नहीं रह सकता। परन्तु जिस समाजवाद की हम चर्चा कर रहे हैं, वह यहीं तक सीमित नहीं है। केवल यह कहना ही ठीक नहीं है कि वह इस दुःखपूर्ण स्थिति का अन्त चाहता है, किन्तु उसने स्थिति का विश्लेषण किया है, रोग का निदान किया है और उसके लिए औषधि की योजना भी की है। क्योंकि इस कारण जिस कार्ल मार्क्स का उन्हें शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ता है उस मार्क्स ने यद्यपि एक करणीय योजना प्रस्तुत की और बोल्शेविकों ने उस स्वप्न को साकार करने के लिए सफलतापूर्वक रूस की सत्ता पर अधिकार भी कर लिया तथापि बोल्शेविक क्रान्ति से लेकर आज तक का रूस का इतिहास विभिन्न क्षेत्रों में अनेक सफलताओं के बावजूद इस पद्धति की अपूर्णता का ही द्योतक रहा है। मार्क्स का समाजवाद आज तक बौद्धिक कल्पना मात्र तथा व्यावहारिक क्षेत्र में असफलताओं के साथ भीषण परिणामदायी ही सिद्ध हुआ है हम देखते हैं कि समाजवाद का पहला हमला लोकतन्त्र पर हुआ। लौह आवरण के पीछे रहने वालों को छोड़कर समस्त विश्व के समाजवादी विचारक आतंकित हो उठे। उन्हें लोकतन्त्र में आस्था थी। सच पूछा जाय तो लोकतान्त्रिक आदर्शों के कारण ही उन्हें जनसाधारण के प्रति सहानुभूति थी और वे उसके लिए समानता का स्थान प्राप्त करने की बात करते थे। लोकतन्त्र ने ही उन्हें राजनीतिक समानता प्रदान की थी। पर वैज्ञानिक अन्वेषणों और यन्त्रीकृत उत्पादन पद्धति ने उन्हें आर्थिक विषमता के गढ़े में ढकेल दिया। परिणामतः ऐसी राजनीतिक परिस्थिति में समानता का कोई महत्व न रहा। मार्क्स ने वर्गविहीन समाज का नारा लगाया। अन्तरिम अवधि तक मजदूरों के अधिनायकवाद की बात कही गई। इसमें सन्देह की पूरी गुंजाइश थी। लोगों को एक संदिग्ध वस्तु की प्राप्ति के लिए उस चीज (राजनीतिक समानता) का त्याग करने को कहा गया जो उन्हें पहले से ही प्राप्त थी। उन्हें इस बात की किंचित भी कल्पना नहीं कि समाजवाद पहिले से ही प्राप्त वस्तु भी उनसे छीन लेगा। वे तो पहिले से ही अभावग्रस्त थे। समाजवाद के द्वारा उन्हें कुछ प्राप्त होना चाहिए था, न कि उनके पास का ही छीना जाना था। किन्तु कुछ देने के पूर्व ही समाजवाद ने उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता और राजनीतिक समानता का अपहरण कर लिया। २८ अप्रैल सन् १९१९ में ही प्रिंस क्रोपाट्किन ने पश्चिमी यूरोप के मजदूरों के नाम एक पत्र में लिखा –

"मैं आपको स्पष्ट रूप से यह बताना अपना दायित्व समझता हूँ कि मेरे विचार से सुदृढ़ एकतंत्री राज्य–व्यवस्था के आधार पर, दलीय तानाशाही के

फौलादी शिकंजे के नीचे, साम्यवादी गणतन्त्र निर्माण करने का प्रयास असफलता के रूप में ही सामने आयेगा। रूस से हम इस बात को सीख रहे हैं, कि साम्यवाद को प्रवेश करने से कैसे रोका जाय। जब तक देश में दलीय तानाशाही का शासन कायम है तब तक किसान और मजदूर परिषद अपना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं बना सकती। वे अपना समस्त वैशिष्ट्य ही खो बैठेंगी। रूसी गणराज्य आज एक ऐसी अभेद्य नौकरशाही को जन्म दे रहा है जिसके सम्मुख वह फ्रांस की नौकरशाही भी मात हो जाएगी जिसमें कहीं रास्ते में आंधी से गिरे हुए पेड़ को बेचने के लिए भी चालीस सरकारी अधिकारियों की आवश्यकता पड़ती है।"

यूरोपीय समाजवादियों के नये प्रयासों ने उरा तत्त्व को जन्म दिया, जिसे आज जनतांत्रिक समाजवाद का नाम दिया गया है। वे कम्युनिस्टों से मतभिन्नता रखते हुए यह प्रतिपादित करते रहे कि समाजवाद का प्रादुर्भाव जनतांत्रिक ढंग से होना चाहिए। वे एक साथ समाजवाद और जनतंत्र दोनों की आराधना करना चाहते हैं। पर मूल प्रश्न तो यह है कि क्या समाजवाद और जनतंत्र एक साथ पनप भी सकते हैं ? प्रगतिवादी इस पर विश्वास नहीं करते। समाजवाद इस बात का हामी है कि उत्पादन के समस्त स्रोत राज्य के अधीन होने चाहिए चूंकि समाजवादी यह समझते हैं कि समाज का राजनीतिक, बौद्धिक और सामाजिक जीवन उसके उत्पादन के स्रोतों के द्वारा ही ढलता है, अतः समाजवादी व्यवस्था में राज्य का, आर्थिक क्षेत्र के साथ-साथ राजनीतिक एवं अन्य क्षेत्रों में भी, पूर्ण वर्चस्व रहना आवश्यक है। इससे एक ऐसी स्थिति पैदा होगी जब, उन लोगों के विरुद्ध जो शासन में है, लोकतांत्रिक अधिकारों का प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग करना सम्भव नहीं होगा। समाजवादी बन्दूक की गोली का पहला शिकार निश्चित रूप से कहीं भी कोई लोकतंत्रवादी ही होगा। समाजवाद और लोकतंत्र दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते ठीक वैसे ही जैसे शेर-बकरी का एक ही घाट पर पानी पी सकना असम्भव है।

आज समाजवादी खेमे में व्याप्त भ्रमपूर्ण स्थिति के लिए बहुत अंशों तक यह सिद्धान्त ही जिम्मेदार है। अब तक कोई भी विचारक ऐसा सर्वांगपूर्ण दोषरहित चित्र प्रस्तुत करने में सफल नहीं हो सका है जिसमें इन दोनों तत्त्वों का सह-अस्तित्व हो सके। इसमें भी, यदि हम लोकतंत्र के विभिन्न स्वरूपों और मर्यादाओं के साथ-साथ भिन्न-भिन्न देशों के विभिन्न सामाजिक सांस्कृतिक ढांचे और भिन्न-भिन्न प्रकार के भौतिक एवं आर्थिक विकास के स्तरों का विचार करें तब तो भ्रम के बादल और भी घनीभूत हो जाते हैं। इस भ्रमजाल की जटिलता के कारण यह गुत्थी इतनी उलझती जाती है कि उसका सुलझना असम्भव-सा हो जाता है।

गैरसमाजवादी देशों ने भी समाजवादियों के भ्रम को बढ़ाने का ही कार्य

किया है। विगत ३० वर्षों में अपनी उदारवादी नीतियों एवं नवीन आर्थिक चिन्तन के कारण उन्होंने समाजवादियों को हतप्रभ कर डाला है। आज अमेरिका या इंग्लैंड का सर्वसाधारण व्यक्ति, किसान और मजदूर जिसे साम्यवादी परिभाषा के अनुसार सर्वहारा कहा जाता है, सौ वर्ष पूर्व की तथाकथित उत्पीड़ित अवस्था में नहीं है। पूंजीवादी व्यवस्था में नहीं है। पूंजीवादी व्यवस्था के स्थान पर कल्याणकारी राज्य के आदर्श प्रस्थापित हो रहे है। पूंजीवादी और समाजवादी, दोनों ही प्रकार के देशों के बारे में मार्क्स की भविष्यवाणी असत्य सिद्ध हुई है। कल के पूंजीवादी देशों ने अपनी पद्धति में विकास किया है और आज वे भौतिक विकास में समाजवादियों से टक्कर लेने को उद्यत हैं, पर समाजवाद आज भी उसी स्थान पर अड़ा हुआ है जहां से उसने अपनी यात्रा आरम्भ की थी। यदि उसने कुछ पग आगे बढ़ाये भी हैं तो वे गलत दिशा में ही बढ़े हैं। इसके विपरीत पूँजीवादी देशों में लोकतंत्र होने के कारण अपनी भूलों को सुधारने एवं नवीन बातों को स्वीकार करने की सिद्धता रहती है। पर समाजवादियों के समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण में इस प्रकार के लचीलेपन का अभाव है। यह विचारधारा किसी प्रकार के नवीन चिंतन को प्रेरणा नहीं देती। मसीहावाद और अपरिवर्तनीय अन्धविश्वासों पर आधारित मजहब के अनुयायी की तरह आज का कट्टर समाजवादी नये स्वतंत्र विचारों से दूर ही रहना पसन्द करता है। यही कारण है कि कम्युनिस्टों के शब्दकोष में ऐसे विचारकों के लिए अनेक प्रकार की गालियां भरी रहती हैं। परन्तु विचारशील मानव विचारहीन नहीं हो सकता। यदि उसकी विचार तरंगों को योग्य दिशा देने की कोई योजनाबद्ध व्यवस्था न रही तो उसका अनिवार्य परिणाम चतुर्दिक् भ्रम के रूप में सामने आये बिना नहीं रह सकता।

आज भारत में समाजवाद के बारे में जो वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ है वह प्रमुख रूप से राजकीय उद्योगों के विस्तार की अनिवार्यता या व्यर्थता के ऊपर ही केन्द्रित है। स्वतंत्र उद्योगों के पुरस्कर्ता एवं समाजवादी विचारक एक दूसरे के विरुद्ध ताल ठोंककर खड़े हो गये हैं। पर साथ ही एक मजेदार तथ्य यह है कि दोनों एक दूसरे के लिए पर्याप्त क्षेत्र खाली छोड़ने के लिए तत्पर भी हैं। अविकसित अर्थ-व्यवस्था में सरकार को कुछ ऐसे उद्योगों को भी अपने हाथ में लेना पड़ता है जो कदाचित् साधारण अवस्था में स्वतंत्र लोगों के हाथों में छोड़े जा सकते थे। साथ ही किसी नियोजित अर्थ-व्यवस्था में स्वतंत्र उद्योगपतियों को वैसी खुली छूट भी नहीं दी जा सकती जैसी शताब्दियों से पश्चिम के लोग उपयोग करते रहे हैं। सच पूछा जाय तो यह स्पर्धा यदि नियत्रित रखी गयी तो दोनो में योग्य सतुलन स्थापित करने में सहायक हो सकती है।

पर प्रमुख समस्या यह नहीं है कि हम समाजवाद को स्वीकार करें या उद्योगों की स्वतंत्रता के सिद्धान्तों को। समाजवाद और लोकतन्त्र की आपस में तुलना ही नहीं की जा सकती, पर हमारे लिए ये ही विकल्प के रूप में नहीं हैं। वे साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। तब फिर साध्य क्या हो ? हमें पहले गन्तव्य निर्धारित कर, फिर मार्ग का निर्धारण करना चाहिए। सभी विचारशील मनुष्यों ने मानव कल्याण को साध्य माना है। पर दुर्भाग्य यह है कि अभी तक मनुष्य–मनुष्य को ही समझने में असमर्थ रहा है। मानव को सुखी व सम्पन्न बनाने के प्रयास में समाजवाद एवं लोकतंत्र, दोनों ने ही उसको एक वीभत्स रूप दे डाला है। उन्होंने उसकी समस्त विशेषताओं को उससे छीन लिया है। रेनेफ्लुप ने 'डी–ह्यू मनाइजेशन इन माडर्न सोसाइटी' नामक अपनी पुस्तिका में लोकतंत्र एवं समाजवाद के इस पहलू का विशद विवेचन किया है। वह लिखता है "यद्यपि, जनतंत्र ने हमें मत देने का अधिकार, न्याय पाने का अधिकार, विचार–स्वातंत्र्य, धार्मिक स्वातंत्र्य, स्वयं का पेशा निर्धारित करने की स्वतंत्रता और भाषण–स्वातंत्र्य प्रदान किया है, पर साथ ही उसने हमें एक आर्थिक मानव की कल्पना भी दी है।"

इसी आर्थिक मानव की कल्पना ने पूंजीवाद को जन्म दिया, जहाँ अधिकाधिक उत्पादन क्षमता बढ़ाने पर तो अत्यधिक बल दिया गया पर सोद्देश्य जीवन व्यतीत करने की क्षमता बढाने की ओर पूर्ण दुर्लक्ष्य कर दिया गया। दूसरी ओर समाजवाद या साम्यवाद ने सामूहिक सुरक्षा एवं मजदूर वर्ग के हितों के संरक्षण का नारा लगाया, पर इसी के साथ–साथ उसने एक युद्ध–पिपासु मानव को जन्म दिया। यह युद्ध लोलुप मानव समाजवादी राज्य की ही देन है। उसे न विचार करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है न स्वयं के निर्णय करने की। इस व्यवस्था के अन्तर्गत मानव–जीवन का मूल्य एक निरीह पशु से अधिक नहीं आंका जाता।

समाजवाद और लोकतन्त्र दोनों ने ही मानव के भौतिक स्वरूप और आवश्यकताओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है और दोनों की आधुनिक विज्ञान और यान्त्रिक उन्नति पर अत्यधिक श्रद्धा है। दोनों ही इन वर्तमान आविष्कारों के शिकार से हो गये हैं। परिणाम यह है कि उत्पादन के साधनों का निर्धारण, मानव कल्याण ओर उनकी आवश्यकताओं के अनुसार नहीं किया जा रहा है बल्कि उनका निर्धारण यंत्रों के अनुसार करना पड़ रहा है। उत्पादन की केन्द्रित व्यवस्था में, फिर उसका नियंत्रण चाहे व्यक्ति द्वारा हो अथवा राज्य द्वारा, मानव के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का लोप हो जाता है। मशीन के एक पुर्जे से अधिक उसका महत्त्व ही नहीं रहता। यदि हमें मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षा करनी है तो हमें उसे मशीन की गुलामी से मुक्त करना होगा। आज व्यक्ति मशीन पर शासन नहीं करता, मशीन मनुष्य पर शासन कर रही है। इस मशीन–प्रेम के मूल मे मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं को

अधिकाधिक मात्रा में तृप्त करने की भावना ही निहित है। पर हम यह न भूलें कि केवल भौतिक समृद्धि मात्र से मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। भौतिक साधनों से सम्पन्न राष्ट्रों की समस्याएँ भी आज हमारे सम्मुख हैं। हमें सम्पूर्ण मानव जीवन का विचार कर, उत्पादन, वितरण और उपभोग को एक इकाई मानकर चलना पड़ेगा। हमें एक ऐसी पद्धति का निर्माण करना होगा जिसमें मनुष्य उत्पादन और उपभोग करते समय एक सार्थक जीवन व्यतीत करने का भी ध्यान रखता है। मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं का समुच्चय मात्र ही नहीं है। उसकी कुछ आध्यात्मिक आवश्यकताएँ भी हैं। जो जीवन–पद्धति मानव–जीवन के इस आध्यात्मिक पहलू की उपेक्षा करती हो वह कदापि पूर्ण नहीं हो सकती। यहाँ हमें इसका स्मरण रखना होगा कि भौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक प्रगति की कल्पना केवल हवाई उड़ान ही नही है मानव की गरिमा को सुरक्षित रखते हुए समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने का दायित्व भी निभाना ही होगा। समाजवाद और लोकतन्त्र दोनों ने ही एकांगी मार्ग स्वीकार किया है और मनुष्य की इन दो भिन्न प्रवृत्तियों का समुचित सामञ्जस्य बिठाकर उसके व्यक्तित्व का विकास करने के स्थान पर एक भ्रमपूर्ण स्थिति पैदा कर विभिन्न शक्तियों के लिए एक युद्धस्थल तैयार कर दिया है।

मानव–जीवन की इस निराशापूर्ण स्थिति में से मार्ग खोजना हो तो दिखाई देगा कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों पर आधारित हिन्दू जीवनादर्श ही हमें इस संकट से उबार सकते हैं। विश्व की समस्याओं का उत्तर समाजवाद नहीं, हिन्दुत्ववाद है। यही एक ऐसा जीवन दर्शन है जो जीवन का विचार करते समय उसे टुकड़ों में नहीं बांटता अपितु सम्पूर्ण जीवन को एक इकाई मानकर उसका विचार करता है। यहां पर हमें हिन्दू जीवनादर्शों का विचार करते समय कुछ निष्प्राण कर्मकांड के साथ अथवा हिन्दू समाज में व्याप्त अनेक अहिन्दू व्यवहारों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिए। साथ ही यह समझना भी भारी भूल होगी कि हिन्दुत्व वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति का विरोधी है। विज्ञान और यन्त्र इन दोनों का उपयोग इस पद्धति से होना चाहिए जिससे वे हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन–पद्धति के अनुरूप हों।

महात्मा गांधी के विचारों का अनुसरण कर विनोबा, जयप्रकाश नारायण और राजगोपालाचार्य ने ट्रस्टीशिप का विचार सम्मुख रखा है। यह हिन्दू जीवन–पद्धति के अनुसार ही है। यह एक ऐसा विचार है जो समाजवादी और गैर–समाजवादी दोनों ही समाजों के लिए समान रूप से उपयोगी हो सकता है पर यदि हम पाश्चात्य यन्त्रप्रणाली का अन्धानुकरण करते रहे तो सर्वोदय या समाजवाद दोनों ही न हमारी संस्कृति का संरक्षण कर सकेंगे, न हमारे सम्मुख उपस्थित समस्याओं का समाधान ही कर सकेंगे। हमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सैद्धान्तिक सभी

मोर्चों पर इस यन्त्रवाद का सामना करना पड़ेगा। हमें धर्मराज्य, लोकतन्त्र, सामाजिक समानता और आर्थिक विकेन्द्रीकरण को अपना लक्ष्य बनाना होगा। इन सबका सम्मिलित निष्कर्ष ही हमें एक ऐसा जीवन–दर्शन उपलब्ध करा सकेगा जो आज के समस्त झंझावातों में हमें सुरक्षा प्रदान कर सके। आप इसे किसी भी नाम से पुकारिये, हिन्दुत्ववाद, मानवतावाद अथवा अन्य कोई भी नया वाद, किन्तु यही एकमेव मार्ग भारत की आत्मा के अनुरूप होगा और जनता में नवीन उत्साह संचारित कर सकेगा। सम्भव है विभ्रान्ति के चौराहे पर खड़े विश्व के लिए भी यह मार्ग–दर्शक का काम कर सके।

१४

विकेन्द्रीकरण

विकेन्द्रीकरण

विगत वर्षों में भारत सरकार ने जनता को जिन कतिपय मोहक नारों से सम्मोहित करने की कोशिश की है, उनमें 'विकेन्द्रीकरण' का नारा विशेष महत्त्व रखता है। राजनीतिक अधिकारों का विकेन्द्रीकरण व आर्थिक विकेन्द्रीकरण के साथ ही साथ औद्यौगिक क्षेत्र में भी एकाधिकार की स्थिति को समाप्त करने के लिए औद्योगिक विकेन्द्रीकरण का नारा बार-बार दुहराया गया है।

किन्तु कांग्रेस शासन में आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण के स्थान पर एकाधिकार का विस्तार किस सीमा तक हुआ यह बताने के लिए यह एक घटना ही पर्याप्त होनी चाहिए कि सरकार को 'एकाधिकार' की बढ़ती प्रवृत्ति पर विचार करने के लिए 'मोनोपोली कमीशन' की स्थापना करनी पड़ी और उसकी गम्भीर रिपोर्ट पर सभी क्षेत्रों में चिन्ता व्यक्त की जा रही है।

वास्तविकता यह है कि एकाधिकार का सम्बन्ध कायदे-कानून से उतना नहीं जितना सरकार के नीति-निर्धारक तत्त्वों से हुआ करता है। हमारे वर्तमान कर्णधारों ने इस विषय पर कभी मौलिक चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं समझी। विदेशों के मोहक 'वादों' की भूलभुलैया में वे अपने वास्तविक गन्तव्य को भूल गए। अपनी आत्मा व प्रकृति के साथ ही अपनी वर्तमान विशिष्ट परिस्थितियों को 'ब्रह्मवाक्य' मानकर हम उसी रास्ते पर चलने की कोशिश करने लगे।

न केवल भारत में अपितु सामान्यतः अन्य देशों में भी प्रारम्भिक अवस्था में किसी भी कार्य करने की सफलता के लिए मानवीय सम्बन्धों के आधार पर प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। पश्चिम ने औद्योगिक क्षेत्र में अपनी परिस्थिति एवं आवश्यकतानुरूप जिन भारी उद्योगों का आश्रय लिया उनमें मानव एक बड़ी मशीन का एक हृदयहीन समष्टि का पुर्जामात्र बनकर रह गया। भारत में हम इस प्रकार के निर्जीव मशीन का पुर्जा मात्र बनकर अपने व्यक्तित्व का उज्ज्वलतम स्वरूप प्रकट नहीं कर सकते। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें

औद्योगिक क्षेत्र में वही प्रणाली स्वीकार करनी होगी जिसमें कौटुम्बिक आधार पर काम को जीवन का अंग बनाकर चला जा सके। इसी में मालिक, मजदूर, उत्पादक, उपभोक्ता आदि के पारस्परिक सम्बन्धों का ठीक–ठीक निर्धारण हो सकेगा। हम इन सम्बन्धों का नियमन पश्चिम के मूल्यों के आधार पर नहीं कर सकते। उन्होंने मानवीय मूल्यों की उपेक्षा कर सामाजिक जीवन में विषमता और कटुता का विष भर दिया है। हमारे यहाँ सद्यः फैक्ट्री एक्ट, वेजेज एक्ट आदि सभी कानून पश्चिम की नकल करके बनाये गए हैं। वे उद्योगपति को उसी रूप में देखते हैं जो १८वीं या १९वीं सदी में ब्रिटेन या यूरोप के अन्य देशों में प्रकट हुआ था तथा जिस रूप में कार्लमार्क्स ने उसे चित्रित किया। संभव है, भारत के भी कतिपय उद्योगपतियों ने पश्चिमी उद्योगों की परम्परा को भारत में चलाने के लिए उनका ही बाना धारण किया हो किन्तु देश के व्यापक औद्योगीकरण में मानव सम्बन्धों का निर्माण हमें अपने भारतीय मूल्यों पर करना होगा।

साधारणतया काम और उसके लिए मिलने वाले पारिश्रमिक से ही भारी विषमताएँ नहीं पैदा होतीं, वह तो निजी सम्पत्ति पर मनुष्य के कर्तव्यविमुख अधिकार एवं उसके उपयोग द्वारा अनर्जित आय की उपलब्धि से बढ़ती है। इस आधार पर समाजवादी निजी सम्पत्ति को ही समाप्त करने की बात करते है। और सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से उसका समर्थन करना कठिन है। यद्यपि सृष्टि के आरम्भ से ही अपरिग्रह एवं **'मागृधः कस्यस्विद्धनम्'** का उपदेश मिला है, किन्तु यह संसार 'मेरा और तेरा' का ही नाम है। साम्यवादी जो निजी सम्पत्ति की भावना को जड़मूल से ही समाप्त कर देना चाहते थे, अब पहले पर्सनल (व्यक्तिगत) और फिर कुछ अन्त तक निजी सम्पत्ति को भी स्वीकार करने लगे। निजी सम्पत्ति के कारण बुराइयाँ उत्पन्न होने पर भी हम उसका बहिष्कार नहीं कर सकते हैं। हमें निजी सम्पत्ति की मर्यादाएँ अवश्य स्थापित करनी होंगी। विकेन्द्रीकरण इन मर्यादाओं की स्थापना का ही कार्यक्रम है।

पश्चिम की बडे आधार की प्रौद्योगिकी और विकेन्द्रीकरण एक साथ नहीं चल सकते। बहुत से लोग विकेन्द्रीकरण का अर्थ केवल प्रादेशिक विचार से करते हैं। वे विकेन्द्रीकरण के नाम पर बम्बई और अहमदाबाद जैसे कारखानों को गाँवों में स्थापित करके समाधान कर लेगे। समाजवादी राजनीतिक शक्ति का बँटवारा करके सन्तुष्ट हो जाएगा तथा गाँव, जिला, प्रान्त और केन्द्र के चौखम्भे राज्य के रूप में उसका समाजवाद पनपेगा। किन्तु हर स्थान पर आर्थिक शक्ति राज्य की इकाइयों के हाथ में रहेगी तथा जिस प्रौद्योगिकी को लेकर स्थान–स्थान पर उत्पादन होगा वह पश्चिमी ढग का ही होगा। उनका स्वामित्व बँटवारे का है, मौलिक नही। सर्वोदयवादी वर्तमान तकनीक का तो विरोध करता है किन्तु उसके

ग्राम–राज्य में सम्पूर्ण गाँव की भूमि पर कृषि, एक चक के रूप में, ग्रामपंचायत की देखरेख में होगी। गाँव की शेष आर्थिक व्यवस्था भी पंचायत के अधीन रहेगी। व्यवहार में यह स्थिति रूस की सामूहिक खेती से भी खराब होगी। इसमें न तो आधुनिक मशीनें ही प्राप्त होंगी और न व्यक्ति को उत्पादन की स्वतंत्रता। समाजवादी, वे फिर किसी रूप–रंग के क्यों न हों, पश्चिमी प्रौद्योगिकी में अमिट श्रद्धा लेकर चलते हैं। उनकी लड़ाई मशीन से नहीं बल्कि मशीन के मालिक से है। फलतः वे उसकी मिल्कियत राज्य को सौंपकर समाधान मान लेते हैं। दूसरी ओर सर्वोदयवादियों ने मशीन की बुराइयाँ समझीं और इसीलिए उसका बहिष्कार किया; निजी सम्पत्ति की बुराइयाँ देखीं और इसलिए उसे समाप्त करने का बीड़ा उठाया। समाजवादी राज्य की भारी और निरंकुश शक्ति देखकर उसे भी त्याज्य ठहराया तथा शासनविहीन समाज में सम्पूर्ण शक्ति गाँव की पचायत को सौंप दी। यह सब अव्यावहारिक तो है ही किन्तु जिन बुराइयों से बचने के उद्देश्य से यह किया जा रहा है– वे बुराइयाँ इससे समाप्त नहीं होंगी। यह तो रोग को दूर करने के हेतु रोगी को ही समाप्त करने की प्रक्रिया होगी। विकेन्द्रीकरण की यह विडम्बना नहीं है तो क्या है?

दुर्भाग्य यह है कि ये सभी विचारधाराएँ मानव को हाड़माँस का बना हुआ, विविध गुणसम्पन्न, इच्छा, आकांक्षाओं तथा भावनाओं वाला जीवित प्राणी न मानकर उसके किसी भाव–स्वरूप की कल्पना लेकर ही अपनी रचना करती हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विचार लेकर चलने वाले प्रजातंत्र ने यदि एक 'अर्थ–मानव' की सृष्टि की तो साम्यवाद ने एक 'सामान्यजन' (मास मैन) की उत्पत्ति की। यह सामान्यजन भगवान की सृष्टि नहीं बल्कि राज्य द्वारा रचा जाता है। "राज्य ही उसके सम्पूर्ण विचारों, भावनाओं, क्रियाओं और आदर्शों का विधान करता है। उसे विचार, व्यक्तिगत निर्णय और निश्चय से स्वतंत्रता प्राप्त रहती है और बदले में उसे एक मशीन–मानव की सुरक्षा प्राप्त होती है।" सर्वोदयवादी भी ऐसे ही भाव–जन की कल्पना लेकर चलता है। जो सर्वस्वार्पण भाव से सर्वोदयवादी मनोवृत्ति से काम करता चला जायेगा।

वर्तमान साम्यवाद और पूँजीवाद दोनों में स्वामित्व के स्वरूप का अन्तर छोड़कर और कोई फर्क नहीं। अतः दोनों में ही व्यक्ति के विकास की कोई सुविधा नहीं तथा आर्थिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रताएँ नाममात्र को ही प्राप्त हैं। साम्यवाद के सम्बन्ध में तो प्रिंस क्रोपाटकिन ने १९०४ में ही लिखा था– "देखना है कि वे इस शताब्दी की प्रभावी प्रवृत्तियाँ विकेन्द्रीकरण, स्वराज्य तथा स्वतन्त्र समझौते का अनुसरण करते हैं या उसके विपरीत विनष्ट सत्ता को पुनः प्रतिष्ठापित करते हैं।" प्रिंस क्रोपाटकिन जिस कम्युनिज्म की कल्पना करते थे, वही सच्चा कम्युनिज्म है या वह जो रूस में आज चल रहा है, यह कहना कठिन है। किन्तु यह सत्य है कि

समाजवाद सरकारीकरण का ही दूसरा नाम बन गया है। उससे सत्ता या अर्थ के विकेन्द्रीकरण की आशा करना व्यर्थ है।

विकेन्द्रीकरण की मौलिक इकाई है व्यक्ति और कुटुम्ब। व्यक्ति के प्रयत्नों तथा कुटुम्ब के सहारे और स्वामित्व के द्वारा कभी व्यापक रूप से विषमता अथवा शोषण की सम्भावनाएँ नहीं उत्पन्न हो सकती हैं। ये प्रवृत्तियाँ तो तब बलवती हुईं जब व्यक्ति इन मर्यादाओं से आगे निकलकर सामूहिक संस्थाओं और निगमों के द्वारा अधिकाधिक शक्ति का स्वामी बनता गया। अतः साधारणतया उत्पादन का आधार व्यक्ति या कुटुम्ब होना चाहिए। हमें इस प्रणाली को अपनाना पड़ेगा, जिसमें हम कुटुम्ब की इकाई को ही उत्पादन की इकाई बना सकें। उद्योगों में कुटीर की इकाई को ही उत्पादन की इकाई बना सकें। उद्योगों में कुटीर और छोटे-छोटे उद्योग, जो घर में ही चलाये जा सकते हों, हमारे व्यापक औद्योगीकरण का कार्यक्रम हो सकते हैं। हाँ, इनमें हम अच्छी से अच्छी मशीनों और बिजली का उपयोग कर सकते हैं।

गम्भीरता से देखें तो स्वामित्व का अधिकार वास्तव में निश्चित मर्यादाओं और निश्चित उद्देश्यों के लिए किसी वस्तु के उपयोग का ही अधिकार है। समय के साथ इन अधिकारों में परिवर्तन होता रहता है। अतः हम सैद्धान्तिक दृष्टि से व्यक्ति और समाज के अधिकारों के झगड़े में नहीं पड़ेंगे। हमारे यहाँ तो समाज का केवल एक ही स्वरूप अर्थात् राज्य नहीं माना गया। व्यक्ति, कुटुम्ब, कुल, जाति, राज्य आदि अनेक रूपों में समाज अपने आपको अभिव्यक्त एवं उनके माध्यम से अपना मनोरथ सिद्ध करता है। व्यक्ति में समाज-हित की भावना बनी रहे इसीलिए हमारे यहाँ सम्मिलित कुटुम्ब की एक व्यावहारिक इकाई रखी गई जिसमें प्रत्येक व्यक्ति कमाने का अधिकारी है तथा सम्पत्ति का उपभोग कुटुम्ब के हित में होता है। मनमाने ढंग से नहीं। ट्रस्टीशिप का यही भारतीय सिद्धान्त गांधीजी ने समाज के सम्मुख रखा है।

जहाँ तक छोटे-छोटे उद्योगों का सम्बन्ध है जिन्हें हमने अपने औद्योगिक कार्यक्रम का आधार बनाया है, वे निश्चित ही व्यक्तिगत स्वामित्व में रहेंगे। उनके राज्य के अधीन जाने का कोई प्रश्न ही नही उठता। पूर्वी यूरोप में अनेक साम्यवादी देश तरह-तरह के प्रयत्न करने के बाद भी उनका राष्ट्रीयकरण नहीं कर पाये हैं।

साधारणतया स्वामित्व का सम्बन्ध पैसे से लगाया जाता है। पण्य-व्यवस्था की यह देन है। उद्योगों में भी पैसा लगाने वाला मालिक बन जाता है। जब पैसा लगाने वाला स्वयं ही प्राप्त औजारों और साधनों का प्रयोग करके निर्माण करता है तो कोई कठिनाई नहीं पैदा होती क्योंकि वह सम्पूर्ण मूल्य का स्वामी होता है। किन्तु

जब उन औजारों का उपयोग करके कोई दूसरा उत्पादन करता है तो दोनों में उत्पादित मूल्य के बँटवारे की समस्या के साथ उन औजारों के स्वामित्व का प्रश्न भी उपस्थित हो जाता है। कारण, मजदूर का औजार और यन्त्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध आता है। उनके ठीक-ठीक उपयोग पर ही उसकी उपजीविका निर्भर करती है। यदि उन यंत्रों को बेच दिया जाये या अन्य किसी प्रकार से हस्तान्तरण कर दिया जाये तो उसका परिणाम मजदूर पर भी पड़ता है। अचल उत्पादन के साधन जैसे भूमि में श्रम करने वाले उत्पादक के स्वामित्व का अधिकार स्वीकार किया गया है। फिर क्यों न उद्योग में भी मजदूर का स्वामित्व स्वीकार किया जाये? यह आश्चर्य का ही विषय है कि आजकल की संयुक्त पूँजी कम्पनियों में एक शेयर-होल्डर, जो बहुधा किसी उद्योग से लाभांश के अतिरिक्त और कुछ सम्बन्ध नहीं रखता, स्वामित्व अधिकार का उपयोग करे और जो मजदूर उस कारखाने में बराबर काम करता है, वास्तविक रूप से कलों को सक्रिय बनाता है तथा जिसकी पूरी जीविका उस उद्योग के भले-बुरे पर निर्भर है, सदैव ही परायापन अनुभव करता रहे। निस्पृहता की यह भूमिका ठीक नहीं। अतः आवश्यक है कि अंशधारी के साथ मजदूर को भी स्वामित्व के अधिकार प्राप्त हों तथा उसे भी लाभ और प्रबन्ध में भागीदार बनाया जाय। इस प्रकार श्रमिकों के प्रतिनिधि संचालक मण्डल में रहेंगे।

सार्वजनिक उद्योगों के कारण अधिकाधिक शक्ति राज्य के हाथ में आती है। राज्य का प्रजातंत्र में व्यावहारिक अर्थ होता है, वह दल जिसके हाथ में शासन के सूत्र हों। इस प्रकार शासकीय दल के हाथ में अधिकाधिक शक्ति आ जाती है। यह केन्द्रीयकरण सदैव ही प्रजातंत्र के लिए घातक होता है।

उद्योग-धन्धों को यदि सफलतापूर्वक चलाना है तो यह आवश्यक है कि उन्हें पूर्णतया आर्थिक आधार पर सार्वजनिक हितों के अधीन चलाया जाय। अतः उन्हें दिन प्रतिदिन बदलने वाली दलीय राजनीति से अलिप्त रखना होगा। इस दृष्टि से उन्हें स्वायत्त निगमों के द्वारा परिचालित करना चाहिए। दिन प्रतिदिन के व्यवहार में उन्हें स्वतंत्रता हो किन्तु यह व्यवस्था भी करनी होगी कि उन पर संसदीय नियंत्रण रह सके। श्रमिकों को प्रबन्ध में सहभागी बनाने की दृष्टि से सार्वजनिक उद्योगों को शेष का मार्गदर्शन करना चाहिए।

☆

१५

गुरुपूजा : स्वदेशी-विदेशी

गुरुपूजा : स्वदेशी-विदेशी

गुरुपूजा का पर्व प्रतिवर्ष आता है तथा भारत के करोड़ों नर–नारी किसी न किसी रूप में इस उत्सव को मनाते हैं। हाँ, करोड़ों ऐसे भी हैं जो इस उत्सव के महत्त्व को भूल गए हैं, उनके लिए यह एक साधारण दिन है। वे न तो इसके महत्व को जानते हैं और न किसी भी रूप में मनाते ही हैं। किन्तु ऐसे भी लोग हैं जो गुरुपूजा की अवहेलना करते हैं। 'गुरुपूजा' शब्द को सुनकर नाक–भौं सिकोड़ते हैं। दूसरों को गुरुपूजा करते देखकर वे 'गुरुडम फैला रहे हैं' यह कहकर शिष्ट शब्दों में अपने मन की ग्लानि–प्रधान भावना को व्यक्त करते हैं। वे मानें चाहे न मानें गुरु तो उनके भी हैं और वे उसकी पूजा भी करते हैं। पार्थिव पूजा चाहे न करते हों, किन्तु आत्मिक पूजा अवश्य करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि "गुरु बिनु होइ न ज्ञान" और उनका समर्थन आज का मनोविज्ञान भी कर रहा है। मनुष्य–जीवन की अनुकरण, संवेदना और सहानुभूति की प्रवृत्ति और शक्ति ही तो उसके ज्ञान का कारण होती है। अनुकरण उसी का किया जाता है जिसको मनुष्य अपने से श्रेष्ठ समझता हो।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।

यह गीता में भी कहा है कि भौतिक क्षेत्र के समान ज्ञान के क्षेत्र में भी गुरुत्वाकर्षण नियम लागू होता है। जिसको बड़ा माना उसी की ओर हमारा मन आकर्षित होता है और उसकी क्रियाओं का अनुकरण, विचारों में संवेदना और भावनाओं के साथ सहानुभूति का भाव लेकर अपने जीवन पर उसकी छाप बिठा लेते हैं। बस, यह श्रेष्ठ पुरुष ही उसका गुरु है। उसके प्रति बरबस आदर की भावना हो जाती है। इतना ही नहीं, तो गुरु के समान बनने के प्रयत्न में पार्थिव पूजा चाहे न हो 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत' के अनुसार सच्चे अर्थों में पूजा अवश्य होती है। इस प्रकार इस जीवमान जगत में तथा विशेषकर तर्कयुक्त कहे जाने वाले मानव में ऐसा कोई नहीं जिसकी गुरु सृष्टि न करता हो। हाँ, कबीर के अनुसार 'औरन को

काफिर कहे अपना कुफ्र न सूझ दूसरों को गुरुपूजा के लिए कुछ लोग भला–बुरा चाहे कह दें।

गुरुपूजा जब सर्वव्यापक है तो प्रश्न उठता है कि कौन से गुरु की पूजा की जाय? आज तो यह प्रश्न और भी महत्वपूर्ण हो गया है क्योंकि आज के भारतीय जीवन की असंगति का यही कारण है। हम स्वतंत्र तो हो गए हैं किन्तु हमारे राष्ट्र का गुरुत्वाकर्षण केन्द्र अब भी हमारे राष्ट्र के बाहर ही है। गुरुत्वाकर्षण केन्द्र बाहर होने से किसी वस्तु की जो दशा होती है वही दशा हमारे राष्ट्र की हो रही है। हम अनुकरण तो करते हैं किन्तु अपने महापुरुषों का नहीं बल्कि परायों का। हमारे प्रमाण और आप्त वाक्य वेद, स्मृति, गीता और पुराण नहीं बल्कि मिल, हेगल, एडम स्मिथ, मार्क्स और एंजेल्स हो गए हैं। हमारा खान–पान, रहन–सहन, बोलचाल, सभी बाहरी आदर्शों से प्रभावित है। बड़े वेग से हम उन आदर्शों की ओर दौड़ रहे हैं और गुरुपूजा का मखौल भी उड़ाते हैं।

परतन्त्रता और स्वतन्त्रता का भेद शासन के सूत्रों का विदेशियों या स्वदेशियों के हाथ में रहना मात्र नहीं है। मानव–मानव में भला भेद क्यों? माउन्टबेटन से पंडित नेहरू भावना के क्षेत्र में चाहे अधिक प्रिय हों किन्तु सच्चे तर्कसम्मत वेदान्ती के लिए उनमें कोई अन्तर नहीं। फिर क्या वेदान्ती स्वतन्त्रता का पुजारी नहीं होता। देखने में तो आया है कि राष्ट्र, राष्ट्र ही नहीं, मानव और पशु, यहाँ तक कि विश्व के सभी पदार्थों में एक ही सत्य का दर्शन करने वाला वेदान्ती अधिक स्वतन्त्रताप्रिय होता है। स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ को, जीवन में वेदान्त के परमज्ञान और ईश्वर के साक्षात्कार के उपरान्त भी अपना देश किसी भी देशभक्त से कम प्रिय नहीं था। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी मातृभूमि के लिए जिस स्वर्ग की कल्पना की है उसमें यद्यपि एक ओर कहा 'वेयर दी वर्ल्ड हैज नाट बीन ब्रोकेन इनटू फ्रैगमेन्ट्स बाई नैरो डोमेस्टिक वाल्स' किन्तु दूसरी ओर प्रार्थना की है 'इनटू दैट हेवेन आफ फ्रीडम, ओह लार्ड! लेट माई कन्ट्री अवेक'। यहाँ उन्होंने 'लेट दी वर्ल्ड अवेक' नहीं कहा, यह स्वर्ग भी उन्होंने अपने ही देश के लिए माँगा है। अर्थात् मानव–मानव में किसी प्रकार का भेद–भाव न रखते हुए भी स्वतंत्रता की कल्पना और उसकी आराधना के पीछे केवल सत्ताधिष्ठित व्यक्तियों का परिवर्तन मात्र नहीं, बल्कि इससे कुछ अधिक बात है।

गीता में इसी स्वतंत्रता के भाव को दूसरे शब्दों में प्रकट किया गया है। भगवान ने कहा है–

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः
परधर्मात्स्वनुष्ठितात्

और–

स्वधर्मे निधनं श्रेयः
परधर्मो भयावहः।

अपने धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करना ही स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता में स्वधर्म सदैव अन्तर्गत रहता है। स्वधर्म का अर्थ आज के पढ़े–लिखे लोग रिलीजन लगा लेते हैं किन्तु उसका सच्चा अर्थ उपासना विधि नहीं अपितु हमारी धारणा करने वाली शक्ति है। पाश्चात्यों की भाषा में स्वधर्म–पालन के अर्थ होंगे 'अपरचुनिटी फार डेवलपमेण्ट'। स्वधर्म में ही विकास संभव है पर धर्म में नहीं। मछली का स्वधर्म पानी में रहना है तथा कुत्ते का भूमि पर। यदि हम मछली को जमीन पर रखें तथा कुत्ते को पानी में तो दोनों ही मर जायेंगे।

परतंत्रता में जब शासन–सूत्र पराये हाथों में चले जाते हैं तो स्वधर्म पालन में अनेक प्रकार की बाधाएँ डाली जाती हैं। राष्ट्र के घटकों को धर्म–भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है। इन बाधाओं और प्रयत्नों के सम्मुख जो झुक जाते हैं वे तो राष्ट्र–जीवन से पतित हो, भौतिक रूप से ही नहीं मानसिक और आत्मिक रूप से भी गुलाम बन जाते हैं। जो बाधाओं से टक्कर लेते हैं वे अपने शुद्ध स्वरूप को अधिकाधिक निखारते हुए एक दिन स्वतंत्रता देवी का साक्षात्कार करने में सफल होते हैं। अपने धर्म–पालन के मार्ग में आई बाधा को दूर करने के प्रयत्नों से प्राप्त स्वतंत्रता सदा स्वधर्म की पुजारी रहती है; और ऐसा राष्ट्र अपनी ईश्वर प्रदत्त बुद्धि और शक्ति का विकास करता हुआ अपना और विश्व दोनों का कल्याण करता है।

आज भारत की शासन–सत्ता देशज लोगों के हाथ में तो आ गई है किन्तु वे स्वधर्म भ्रष्ट हो गए हैं। उन्हें भारतीयता से प्रेम नहीं, वे भारतीय आदर्शों के अनुगामी नहीं। फलतः उनका शासन भारतीय जीवन का विकास नहीं कर पा रहा है। स्वतंत्रता की हमारी प्यास बुझी नहीं और न उसके अमृत फल ही चखने को मिले हैं। प्रत्येक परकीय शासक कुछ देशज लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने का प्रयत्न करता है, उनका प्रत्येक क्षेत्र में वह गुरु बन जाता है और इस प्रकार उनके बल–बूते अपना शासन लादे रहता है। मुस्लिम शासकों ने यहाँ यही किया। करोड़ों लोगों को भारतीय धर्म से भ्रष्ट कर अपने मजहब में दीक्षित किया। फलतः मुस्लिम उपासना–विधि को स्वीकार करने वाला हिन्दू स्वधर्म–भ्रष्ट होकर भारतीयता का विरोधी हो गया। उसने भारत की भूमि को दारुलहरब, भारत के निवासियों को काफिर और भारत की संस्कृति को बेगानी समझना शुरू किया। ऐसे लोगों ने जिस परम्परा का विकास किया वह भारत की न होकर फारस और अरब की परम्परा थी और इसीलिए उसका विरोध हर एक स्वतंत्रता प्रेमी को करना पड़ा। अकबर,

जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब सभी देशज थे किन्तु उनका राज्य स्वराज्य नहीं था।

मुसलमानों के समान अंग्रेजों ने भी भारतीयों को धर्म–भ्रष्ट किया। किन्तु उन्होंने मजहब परिवर्तन की बीच की कड़ी पर विशेष बल नहीं दिया। फलस्वरूप हमारे लिए इन धर्म–भ्रष्टों को पहचानना भी कठिन हो गया। इतना ही नहीं मुस्लिम काल में धर्मभ्रष्टों का बहिष्कार करके जहाँ हमने अपनी विशुद्ध राष्ट्रीय परम्परा की, संख्या बल में कुछ कमी होने पर भी, रक्षा की थी वहाँ अंग्रेजी काल में ये धर्मभ्रष्ट व्यक्ति उल्टे हमारे नेता बनकर हमें भी पतन की ओर खींचने लगे। यदि देश की बागडोर उन नेताओं के हाथ में है जो कि देशज होते हुए भी कुतुबुद्दीन, अलाउद्दीन, मुहम्मद तुगलक, फीरोजशाह तुगलक, शेरशाह, अकबर और औरंगजेब से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं तो यही कहना पड़ेगा कि उनका गुरुत्वाकर्षण केन्द्र भारतीय जीवन में नहीं है।

अंग्रेजों ने धर्म परिवर्तन कैसे–कैसे प्रयत्नों से किया यह केवल लार्ड मैकाले के बहनोई सर चार्ल्स ट्रेवेलियन के एक उद्धरण से स्पष्ट हो जायेगा। २३ जून, १८५३ को 'हाऊस आफ लार्ड्स' की सेलेक्ट कमेटी के सम्मुख गवाही देते समय उन्होंने कहा था :

"According to the unmitigated native system the Mahomedans regard us as Kafirs, as infidels. usurpers of some of the finest realms of Islam : for it is a tenet of that dominant and warlike religion constantly to strive for political supremacy, and to hold all other races in subjection. According to the same original native views, the Hindoos regard us as 'mlechhas' that is impure outcasts, with whom no communion ought to be held and they, all of them, both Hindoos and Mahomedans regard us as usurping foreigners, who have taken their country from them, and exclude them from the avenues to wealth and distinction. The effect of a training in European learning is to give an entirely new turn to the native mind. The youngmen educated in this way cease to strive after independence according to the original native model, and aim at improving the institutions of the country according to the English model, with the ultimate result of establishing constitutional Self-Government. They cease to regard us as enemies and usurpers, and they look upon us as friends and patrons and powerful beneficient persons under whose protection all they have most at heart for the regeneration of their country, will gradually be worked out. According to the original native view of political change, we might be swept off the face of India in a day and

as a matter of fact, those who look for the improvement of India according to this model are continually meditating on plots and conspiracies with that object. Whereas according to the new and improved system, the object must be worked out by very gradual steps and ages may elapse before the ultimate will be attained, and in the mean time the minority, who already regard us with respect, and aim at regenerating their country with our assistance, will receive continual accessions, until in the course of time they become the majority. But when that will be, none can say; nor can anyone say how long we may continue to be politically connected with India even after the whole of civic employments have been transferred to the natives supposing our connections with India to cease according to the native views, it will cease suddenly, it will cease by violent convulsion; it will cease with most irritated feelings on both sides, and we shall leave a hostile country. Whereas if the connection ceases according to the other course of circumstances we shall leave a grateful country and a highly improved (?) country".

उद्धरण लम्बा है किन्तु यह अंग्रजों के प्रयत्नों, उनकी शिक्षा–पद्धति, शासनतंत्र, वैधानिक सुधारों, हमारे नेताओं की लड़ाइयों और अन्त में स्वतंत्रता के नाम से प्राप्त देशज व्यक्तियों की शासन–सत्ता पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। उपर्युक्त उद्धरण में अंग्रेज राज्यकर्ताओं की भारत पर शासन करने की नीति का खुलासा हुआ है। इसी नीति पर चलते हुए अंग्रेजों ने पूरी एक शताब्दी तक काम किया। उन्होंने भारतीयों के मस्तिष्क को यूरोपीय मस्तिष्क में बदलकर सदा के लिए इंग्लैण्ड का आश्रित बनाने का यत्न किया। इसलिए इस उद्धरण से हम यह भी भली–भाँति समझ जायेंगे कि अपना संविधान पाश्चात्य आधार पर क्यों बनाया गया है ? क्यों हम ब्रिटिश राष्ट्र–मण्डल के सदस्य बने हुए हैं और क्यों धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में भारतीय परम्पराओं की अवहेलना करके पाश्चात्य आदर्शों की सृष्टि करना चाहते हैं ? स्वतंत्र होने के बाद भी हम आज अपने आप को अंग्रेजों की कार्बन कापी जैसा ही पा रहे हैं। भारत की हर एक वस्तु हमें प्रतिगामी और अवांछनीय लगती है, जबकि यूरोप की प्रत्येक बात अनुकरणीय। आज भी स्थिति यह है कि गोरी चमड़ी वाला व्यक्ति देखते ही हम लोग हीनता की भावना से अभिभूत हो जाते हैं। पाश्चात्य जनों के प्रति, उनकी जीवन–पद्धति, और रहन–सहन के प्रति सहज आकर्षण से देश खिंचा जा रहा है। मानो यूरोपियन आज तक हमारा गुरु रहा है और आज भी हम उसी की गुरुपूजा कर रहे हैं।

इस प्रकार की गुरुपूजा भयावह है। इसलिए महर्षि दयानन्द शिक्षा पूर्ण करने

के पश्चात् जब स्वामी विरजानन्द के पास पहुँचे तो उन्होंने गुरु दक्षिणा में यही माँग की कि सच्चे वैदिक धर्म एवं राष्ट्रीय परम्परा आदि का प्रचार करो। यही माँग स्वामी विवेकानन्द से रामकृष्ण परमहंस ने की। ये सभी महापुरुष अपनी नहीं भारत के सच्चे गुरु की पूजा करना चाहते थे। उसके लिए उन्होंने प्रयत्न किया। उसी की पूजा करने के लिए परमपूज्य डॉ. हेडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की नींव डाली। गुरुपूजा करते समय प्रतिज्ञा करें कि भारतीय जीवन में पाश्चात्य गुरुओं की पूजा के कारण जो परानुकरण की गुलामी–प्रवृत्ति समा गई है उसे समाप्त करेंगे। शुद्धि का रास्ता खुल गया है, हमारा कर्तव्य है कि हम सभी धर्मभ्रष्टों को शुद्ध करके उन्हें पुनः भारतीय धर्म में दीक्षित कर भारत माता के पुजारी बना दें। जिस दिन भारत का बच्चा–बच्चा अपने राष्ट्रगुरु की पूजा को ही अपने जीवन में स्थान देकर 'भारतीय भूत्वा भारतं यजेत्' के सिद्धान्त को जीवन में क्रियान्वित करने का प्रयास करेगा उसी दिन हमारी सच्ची गुरुपूजा होगी।

१६

हमारा राष्ट्रध्वज

हमारा राष्ट्रध्वज

विश्व में भारत सबसे प्राचीन राष्ट्र है। पश्चिम ने जब कच्चे माँस के स्थान पर भुना मांस खाना सीखा था उसे बहुत पूर्व हम एक राष्ट्र थे। आसेतु हिमालय फैली हुई इस मातृभूमि में पुत्र रूप निवास करने वाले इस समाज का राष्ट्रजीवन अति प्राचीन काल से विद्यमान रहा है। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने भारतवर्ष का वर्णन करते हुए कहा कि–

उत्तर यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।

याने पृथ्वी का वह भू–भाग जो समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में स्थित है, भारतवर्ष कहलाता है तथा उसकी संतति को भारतीय कहते हैं। मातृभूमि का यह चित्र सहस्रों वर्षों से भारतीयों के मानस में अंकित है। नित्य स्नान, संध्या, पूजन और प्रत्येक धार्मिक विधि में मातृभूमि के इसी रूप का स्मरण विभिन्न तरीकों से किया जाता रहा है। इतने प्राचीन राष्ट्र की एक विशिष्ट जीवन–पद्धति है। जीवन के आदर्श, संस्कृति, अनुभूतियों, भावनाओं और परम्पराओं के सम्मिलन से एकरूपता प्राप्त हुई है। इस प्रकार सुविकसित समाज इस भूमि की सन्तान के रूप में सहस्रों वर्षों से निवास करता आ रहा है। हमारी राष्ट्रीय परम्परा अनादि काल से है। अति प्राचीन काल से आज तक हमारे सभी महान् पुरुषों ने अपने–अपने जीवन के उदाहरणों से इस परम्परा को पुष्ट किया है। जीवन के आदर्श और मातृभूमि के प्रति अनन्य श्रद्धा की समान परम्पराओं को जाग्रत रखने के लिए विभिन्न प्रकार के संस्कारों की व्यवस्था भी प्राचीन काल से चली आ रही है। इन संस्कारों के बाह्यरूपों में समय के अनुसार भले ही कुछ परिवर्तन होते रहे हों तथापि मूलभावना में कोई परिवर्तन नहीं होता। राष्ट्र–भावना को जाग्रत रखने के लिए नित्य तथा नैमित्तिक दोनों प्रकार के संस्कार आज भी प्रचलित हैं। हमारे तीर्थस्थान, यात्राएँ, व्रत, पर्व आदि सब इन संस्कारों को प्रदान करने के माध्यम हैं। इन संस्कारों के

द्वारा हमारे मन में राष्ट्र के सम्बन्ध में श्रद्धा की भावना उत्पन्न होती है। राष्ट्र–सम्बन्धी हमारा धारणा दृढ़ होती है। हमारी संस्कृति की विशेषताएँ, इतिहास, भाषा, सभ्यता आदि कितनी ही बातें इस राष्ट्र–धारणा के अन्तर्गत पुष्ट होती हैं। राष्ट्र सम्बन्धी हमारे इस लगाव को हम सदैव शब्दों में व्यक्त ही कर पाते हों सो बात नही। कई बार तो हम राष्ट्र के प्रति अपने इस अपनत्व को व्यक्त करने के कारणों को भी ठीक–ठीक समझ नहीं पाते। राष्ट्र के प्रति हमारी यह भक्ति–भावना हमारे प्रत्येक व्यवहार में छिपी रहती है। मन में वह कल्पना सी छायी रहती है। इस अमूर्त कल्पना को अपनी आँखों के समक्ष उपस्थित करने के लिए ही विभिन्न प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता है। राष्ट्र–सम्बन्धी हमारी आन्तरिक भावना को हम कहीं प्रकट करना चाहते हैं। ताकि हम उसके प्रति अपनी भक्ति प्रकट करने का अवसर पा सकें। यह ठीक उसी प्रकार की बात है जिस प्रकार निराकार परब्रह्म के प्रति भक्ति प्रकट करने के लिए भक्त मूर्ति का सहारा लेता है। इसी कारण राष्ट्र सम्बन्धी भक्ति के संस्कारों को दृढ़ करने के लिए कुछ माध्यमों का सहारा लिया जाता है।

राष्ट्र सम्बन्धी इस अमूर्त भक्ति–भावना को मूर्त स्वरूप देने के लिए सबसे अधिक व्यापक साधन है हमारा परम पवित्र राष्ट्रध्वज। प्रत्येक राष्ट्र का ध्वज हुआ करता है। राष्ट्र का प्रतीक बनकर वह प्रत्येक को प्रेरणा देता है। हमारा भी एक राष्ट्र–ध्वज है जो आज से नहीं अनादि काल से व्यवहृत होता रहा है। इस राष्ट्र–ध्वज में हम अपने देश का समग्र इतिहास प्रतिबिम्बित पाते हैं। यह केवल कपड़े का एक टुकड़ा मात्र नहीं है। यदि ऐसा होता तो इसको देखकर हमारा मस्तक श्रद्धा से इस प्रकार नहीं झुक जाता। रंग और कपड़े की अनेक प्रकार की झण्डियाँ लटकी हों तो हम उसमें इस प्रकार श्रद्धा व्यक्त नहीं कर पावेंगे। उससे हमें स्फूर्ति भी नहीं मिल सकती। तथापि इस ध्वज के समक्ष हम श्रद्धावनत हो जाते हैं इसका कारण यही है कि यह हमारे राष्ट्र का मूर्तस्वरूप है। राष्ट्र का भूत, वर्तमान और भविष्य उसमें झांकता हुआ दिखाई पड़ता है। यही हमारी सांस्कृतिक परंपरा का द्योतक है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस राष्ट्रजीवन का प्रतीक बनकर यह ध्वज है वह राष्ट्रजीवन हिन्दू जीवन ही है। हिन्दुत्व की परम्परा ही इस देश की परम्परा है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। वेदकाल के अति प्राचीन पृष्ठों से यह स्पष्ट है कि वे हिन्दू समाज के ही पूर्वज थे जिन्होंने मातृभूमि के लिए प्रेम तथा भक्ति के आदर्श एवं परम्पराएँ निश्चित कीं। उन्होंने अपनी मातृभू की सजीव एवं अखण्ड प्रतिमा को समाज के मस्तिष्क में सदैव उज्ज्वल बनाए रखने के हेतु विविध कर्तव्यों और कृत्यों को भी निर्दिष्ट किया। वही थे जिन्होंने मातृ–भू की अखण्डता तथा पवित्रता की रक्षा के लिए अपना रक्त बहाया। इस तथ्य का साक्षी सहस्रों वर्षों का इतिहास है। इसलिए जिस प्रकार आदि काल से चली आने वाली यह राष्ट्रीय

परम्परा है उसी प्रकार इस भक्ति–भावना को व्यक्त करने वाला यह राष्ट्र–ध्वज भी अनादिकाल से इस राष्ट्र में विद्यमान है।

इस ध्वज का याने हमारे राष्ट्रजीवन के मूर्तरूप प्रतीक का निर्माण कब हुआ– कहना कठिन है। इसके निर्माण की गाथा इतिहास में नहीं मिलती। कोई पता नहीं लगता कि कब इस रंग और इस आकार के ध्वज को तय किया गया। तथापि प्राचीन ग्रन्थों में गैरिक ध्वज का उल्लेख मिलता है। वेदों में भी इसका उल्लेख 'अग्नि केतव: के नाम से हुआ। अग्नि के रंग के समान इस ध्वज की आभा का उल्लेख सोद्देश्य ही है। हम सब जानते हैं कि हमारी संस्कृति में यज्ञ का बहुत बड़ा स्थान प्राचीन काल से रहा है। यहाँ तक कि भारतीय संस्कृति को यज्ञ–संस्कृति भी कहा गया है। आर्य जाति का सम्पूर्ण जीवन यज्ञ–प्रधान था। यज्ञ के निमित्त ऋषि–मुनि एकत्रित होते थे और परस्पर विचार विनिमय कर जीवन की समस्त समस्याओं को सुलझाते हुए नवीन विचार करते थे। इन्हीं यज्ञस्थलों पर हमने समाज की लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की उन्नति के मार्ग खोज निकाले। यज्ञ ही हमारी संस्कृति का प्रतीक था। अतः जो लोग इस संस्कृति को नष्ट करना चाहते थे उन्होंने यज्ञों का विध्वंस करने का यत्न किया। राक्षसों द्वारा यज्ञों का विध्वंस करने का वर्णन मिलता है, वह इसी तथ्य का द्योतक है। राक्षस यज्ञ नहीं होने देना चाहते थे क्योंकि यज्ञ में हमारी संस्कृति का वास था हमारे राष्ट्र की आत्मा इन्हीं यज्ञों में निवास करती थी। यज्ञ–संस्कृति के विस्तार से भारत का सांस्कृतिक वैभव बढ़ा करता था। किन्तु ज्यों–ज्यों समय आगे बढ़ता गया इन यज्ञों को बहुत स्थानों पर ले जाना कठिन हुआ। यज्ञ की महत्ता कम होती गयी। इसलिए अपनी संस्कृति की विशेषताओं को अक्षुण्ण रखते हुए यज्ञ के प्रतीकस्वरूप ध्वज का आविष्कार हुआ। अग्नि की उठती हुई ज्वालाओं के रूप में उसी रंग उसी आकार में इसकी प्रतिष्ठापना हुई। इस ध्वज को लेकर हम यज्ञ–संस्कृति का ही विस्तार करते थे। इसी ध्वज को लेकर हम युद्धों में विजयी होते थे। जिसे देखकर प्रेरणा प्राप्त हो, स्फूर्ति मिले, आदर्श प्रकट हो, जीवन–लक्ष्य की स्मृति बनी रहे और जिन श्रेष्ठ मूल्यों की रक्षा के लिए लड़ते समय अपना व्यक्तिगत जीवन अर्पित करते हुए हर्ष हो ऐसा प्रतीक यह ध्वज ही था। **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** की ध्वनि करते हुए सम्पूर्ण विश्व में अजेय बनने के लिए जो श्रेष्ठ लक्ष्य प्रेरणा देता रहता था वह इस ध्वज में प्रकट होता था। सम्पूर्ण विश्व को सभ्य बनाने के लिए, उन्हें ज्ञान प्रदान करने के लिए, सब प्रकार के संकटों से जूझने की शक्ति इसी ध्वज से प्राप्त हुई। भारत ने यद्यपि विश्व को गुलाम बनाने के लिए युद्ध नहीं किये। युद्ध आत्मरक्षार्थ ही हुए। किन्तु आत्मरक्षा का अर्थ अपने तुच्छ ऐहिक जीवन की रक्षा नहीं, अपनी संस्कृति की रक्षा रहा। 'शरीर नश्वर और आत्मा अमर' के सिद्धान्त को मानते हुए

धर्म, संस्कृति सभ्यता की रक्षा के लिए बड़े–बड़े बलिदान हुए। इन सब आदर्शों को हमारे सामने प्रस्तुत करने वाला कोई प्रतीक रहे तो उससे अवश्य स्फूर्ति मिलती है। यज्ञ के समान त्याग, तपस्या, उद्योग और उत्सर्ग करने का भाव इस ध्वज से प्राप्त होता है। इसीलिए अनादिकाल से यह हमारा राष्ट्र–ध्वज है।

इसके रंग की यह विशेषता है कि यह संन्यासियों का रंग है। ध्वज का रंग भगवा है, इसलिए संन्यासियों ने भगवे रंग के कपड़े पहनना प्रारम्भ किया अथवा संन्यासियों के कपड़े का रंग भगवा होने के कारण ध्वज का रंग भगवा हुआ। यह निश्चित करना कठिन है। वास्तव में दोनों एकरूप ही हैं।

ये साधु–संन्यासी अपने जीवन के समस्त मोहों को छोड़कर देश और समाज के कार्य के लिए जीवन बिताते थे। चारों ओर भ्रमण करते थे। तीन दिन से अधिक किसी स्थान पर नहीं टिकते थे। सतत जनसेवा में लगे रहते थे, परम्परागत रीति से इन साधु–संन्यासियों ने समाज को ज्ञानवान, समर्थ और सुखी बनाने के लिए प्रयास किया है। इस देश को राष्ट्रीयता का पाठ सिखाने का काम उन्होंने ही किया। उन्हीं के त्याग, परिश्रम, सेवा के कारण आसेतु हिमाचल सम्पूर्ण भारतवर्ष में एकता का सूत्र स्थापित हुआ। ऐहिक जीवन की लालसाओं से ऊपर उठा हुआ उनका त्यागपूर्ण व्यक्तित्व सभी दिशाओं, सभी प्रान्तों और सभी भाषाभाषियों में समान रूप से आज भी वन्दनीय है। सुदूर अतीत में जब आवागमन के आज जैसे उत्तम साधन नहीं थे, जीवन के आदर्शों की, दृष्टिकोण की, साहित्य की, एक जैसी भावना निर्माण करने का कार्य इन्हीं संन्यासियों द्वारा सम्पन्न हुआ था। अतः इन समाज समर्पित त्यागी और निष्काम कर्मयोगी संन्यासियों की परम्परा को ही भारत ने आदर्श माना। जीवन की चरम उपलब्धि त्याग में अंकित हुई। बड़े–बड़े सम्राटों के राजमुकुट भी इन तपस्वियों के समक्ष शरणागत हुए। अन्तर–बाह्य पूर्ण निःस्वार्थ, निःसंग, रहते हुए समस्त समाज के कल्याण में अपना जीवन होम करने वाले इन वैरागियों का जीवन साक्षात् यज्ञ ही था। यज्ञ की ज्वालाओं के समान शुद्ध और तेजयुक्त इन संन्यासियों ने अपना परिधान भी उसी प्रतीकस्वरूप भगवा रंग में चुना। भगवा वस्त्र संन्यासियों का वेश रहा। इसी आदर्श को भारत ने अपने समक्ष रखने के कारण संन्यासियों के इस वस्त्र को ही अपना राष्ट्रध्वज माना। राष्ट्र की आत्मा का ही यह रंग था। मूर्तिमन्त पवित्रता और त्यागपूर्ण व्यवहार का सन्देश देता हुआ यह भगवाध्वज आज भी उन्हीं आदर्शों की ओर हमें प्रेरित करता है।

कितने ही ऐसे अवसर आते हैं जब हमें अपने राष्ट्रीय आदर्श के इस तथ्य की अनुभूति होती है। अनजाने, जैसे ही हम भगवा वस्त्रधारी किसी व्यक्ति को देखते हैं तो हमारा अन्तःकरण उसकी ओर श्रद्धा से आकर्षित हो उठता है। इसका भी कारण यही है कि हम अपनी राष्ट्रीय परम्परा के त्यागपूर्ण जीवन के प्रति

श्रद्धावनत हैं। एक बार की घटना है, मैं रेलगाड़ी से प्रवास कर रहा था। गाड़ी में बहुत भीड़ थी। जिस स्टेशन पर गाड़ी रुकती थी ठेलमठेल मचती थी। डिब्बे में चढ़ना–उतरना कठिन था। डिब्बे में सेना का एक व्यक्ति भी बैठा था। वह दरवाजे के पास होने के कारण किसी को भीतर नहीं आने देता था, भीड़ इतनी थी कि उसे दोष नहीं दिया जा सकता था। परन्तु एक स्टेशन पर एक साधु उस डिब्बे में चढ़ने लगा तो उस सैनिक ने इधर–उधर धक्के देकर उस साधु को डिब्बे के अन्दर खींच लिया। एक सज्जन जो कपड़े–लत्ते से पढ़े–लिखे ग्रेजुएट जैसे लग रहे थे और बहुत परेशान थे, इस सैनिक से बोले– "वाह जी, आप भी विचित्र हैं, इस साधु बाबा को क्यों अन्दर आने दिया?" सैनिक बोला, "साधु को अन्दर आने देने में क्या हर्ज है!" सज्जन बोले, "यह साधु नहीं, स्वादु है।" ऐसी ही कुछ और बातें भी वे सज्जन बोले तो उस सैनिक ने उत्तर दिया– "मुझे व्यक्ति की चिन्ता नहीं, मुझे तो इस कपड़े के रंग से प्रेम है। मैंने इस रंग को अन्दर आने दिया है। यह व्यक्ति भले ही खराब हो फिर भी इसने यह कपड़ा पहन रखा है। इस रंग को देखते ही हम श्रद्धा से झुक जाते हैं।"

यह मेरे अनुभव का एक छोटा–सा उदाहरण है। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। हमें विचार करना चाहिए कि यह श्रद्धा क्यों है? कहाँ से आयी? हम थोड़ी गहराई से सोचें तो हमें पता चलेगा कि युगो–युगों से भारत ने जिस त्यागपूर्ण जीवन की आराधना की है वही सहसा उमड़ उठती है। यह हमारी राष्ट्रीय अभिव्यक्ति का साधन है। हमारी देशभक्ति का सशक्त माध्यम है। साधारण दैनिक जीवन में हम भले ही उसकी ओर गंभीरता से सोच–विचार न करते हों फिर भी ऐसे अवसर आ उपस्थित होने पर हृदय में विराजमान वे संस्कार उमड़ पड़ते हैं। हम उन्हें रोक नहीं पाते।

इसीलिए यह ध्वज हमें हमारी संस्कृति का सन्देश देता हुआ सुनाई पड़ता है। इसे देखकर हम त्यागपूर्ण जीवन की आकांक्षा से भर उठते हैं। हो सकता है कुछ लोग इसके सन्देश को सुन नहीं पाते हों क्योंकि राष्ट्र के लिए सर्वस्व भेंट चढ़ाने की भावना वाला अन्तःकरण ही इसकी महत्ता आंक सकता है। जिसके अन्दर थोड़ी भी राष्ट्रसेवा की कसक है उसके लिए इस ध्वज का सन्देश मुखर है। राष्ट्र का समग्र इतिहास आँखों में तैर उठता है। वैदिक ऋषियों की वाणी, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर से लेकर सूर, तुलसी, नानक, मीरा, चैतन्य, रामदास आदि कितने ही आदर्श महापुरुषों के जीवन, अतुल पराक्रमी शूर–वीर योद्धाओं की विजय गाथाएँ, मठ, मंदिर, तीर्थ और पवित्र नदियों की यात्रा करने वाली पवित्र आत्माएँ आदि–आदि कितने ही चित्र आँखों के समक्ष झूलने लगते हैं। इन सब में से एक ही ध्वनि सुनाई पड़ती है कि त्यागमय जीवन व्यतीत करते हुए समन्वय की, सहिष्णुता की,

सांस्कृतिक विशेषता ग्रहण करना है। कोई पराया न रहे, सबको अपना बना लेना है। विशालता ही जीवन है। संकुचितता ही मृत्यु है। यह ध्वज अग्नि की ज्वालाओं का, यज्ञ का प्रतीक है। अग्नि की विशेषता यही है कि वह स्वयं ही पवित्र नहीं वरन् जो भी उसके सम्पर्क में आया उसे भी अग्नि ने पवित्रता प्रदान की है। इतनी दाहकता और पवित्रता का जीवन जीने की शिक्षा इस ध्वज से मिलती है। हिन्दू संस्कृति की तो सदा से यह विशेषता रही है कि जो भी उसके समीप आया उसने उसे अपना बना लिया। जब से हम अपनी सांस्कृतिक विशेषता को भूल गये, इस ध्वज के सन्देश की उपेक्षा की। सर्वसंग्राहक वृत्ति को छोड़ दिया तब से ही हमारा ह्रास प्रारम्भ हुआ। जब तक हमने इस ध्वज को गुरुस्थान पर प्रतिष्ठित रखा और इसकी शिक्षाओं पर ध्यान दिया तब तक शक, हूण, सिथियन्स आदि जितने लोग आये हमने सबको अपना लिया। अपने जैसा बना लिया। यह हजम करने की प्रवृत्ति आर्य संस्कृति की विशेषता है। इस विशेषता को बताने वाला यह ध्वज है। यज्ञमय जीवन की प्रेरणा देने वाले, अग्नि की ज्वाला के समान सदैव ऊपर उठने के लिए प्रेरित करने वाले इस ध्वज के सन्देश को हमें भली–भांति सुनना है।

दुर्भाग्य से आज कितनी ही प्रकार की भ्रामक धारणाएँ प्रचलित हैं। उनसे प्रभावित होकर इसके वास्तविक सन्देश को हमने भुला दिया है। कई लोग सोचते हैं कि यह संन्यासी बनकर जंगल में बैठने और नाक बन्द कर ध्यान धारणा करने मात्र का सन्देश देता है। लोग सोचते हैं कि देश, समाज आदि किसी बात का विचार न करते हुए केवल धूनी रमा कर समाज से दूर जा बैठने में ही संन्यास का रहस्य है। किन्तु यह गलत बात है। संन्यास महान् कर्मों का प्रेरक है। अखण्ड कर्मयोगी बनना ही सच्चे संन्यास का रहस्य है। इस रंग का सन्देश कर्म से भागना नहीं, कर्म के सच्चे कर्ता बनने का है। इस रंग से निसृत धर्म में ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की उन्नति का मार्ग बताया गया है। जो व्यक्ति इहलोक की चिन्ता नहीं करता वह यशस्वी नहीं हो सकता। यह सत्य है कि हमने मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति को लक्ष्य के नाते अपने सामने रखा है किन्तु इसका अर्थ लौकिक प्रगति को कम आंकना कदापि नहीं है। भगवान ने हमें यह जीवन क्यों प्रदान किया है? इसीलिए कि हम चिरन्तन सुख और शाश्वत शान्ति पा सकें।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधन यह सांसारिक जीवन है। यदि हम साधन की ओर दुर्लक्ष्य करेंगे तो लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। ठीक उसी प्रकार जैसे मोटरकार से हमें प्रवास कर किसी स्थान पर पहुँचना है तो मोटरकार की ठीक–ठीक देखभाल जरूरी ही है। मोटर की ओर दुर्लक्ष्य कर लापरवाही से बढ़ते चले तो किसी दीवार से टकरा सकते हैं। इसके लिए हमारे यहाँ नदी–नाव का भी उदाहरण दिया गया। नाव से नदी पार करना है तो नाव ठीक चाहिए। उसमें एक

भी छेद रहा तो नदी पार नहीं की जा सकती। नाव को भली प्रकार खेते हुए हम उस पार निकल जावें, यही बुद्धिमानी का व्यवहार है। हाँ! इतना सत्य है कि नदी हमारा सर्वस्व नहीं, ध्येय नहीं। पार जाने पर हम नाव को ही पकड़कर बैठ गए, बालू में नाव को खींच लाए तो मूर्खता की बात होगी। कहना होगा कि ऐसे व्यक्ति ने नाव का महत्त्व नहीं समझा। पाश्चात्य जगत ने यही किया है। पाश्चात्य जगत् की सांसारिक प्रगति की लालसा नाव को पकड़कर बैठ जाने जैसी ही है। भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति में यही अन्तर है कि हमने साधन की उपेक्षा नहीं की परन्तु उसे ही लक्ष्य मानने की भूल भी नहीं की। पाश्चात्य संस्कृति ने इस जीवन को ही सर्वस्व मान लिया है। इसके आगे की चिन्ता ही नहीं की। परिणामस्वरूप वहाँ संघर्ष मचा हुआ है। राक्षसी वृत्ति से नरसंहार किया जा रहा है। किन्तु हमने दोनों का सारासार विचार किया। इसीलिए सांसारिक जीवन से ऊपर उठे हुए त्यागी, विरागी, तपस्वी ऋषि–मुनियों ने संसार को ठीक करने का बीड़ा उठाया, साम्राज्य निर्माण किये। विश्व कल्याण के लिए अखण्ड कर्मचेतना के उदाहरण प्रस्तुत किये। त्याग के प्रतीक इसी ध्वज को लेकर भारतवर्ष से बाहर द्वीप–द्वीपान्तरों में भ्रमण किया। जावा, सुमात्रा, बाली, हिन्देशिया, जापान, चीन आदि कितने ही देशों में आज भी भारत के सांस्कृतिक विजय के चिह्न अंकित हैं। भारत के महान् कर्मवीर योद्धा दिग्विजय करते रहे हैं। जिस ध्वज के मार्गदर्शन में समस्त संसार का वैभव सम्पादित किया वह कर्म से भागने का सन्देश भला कैसे दे सकता है। इसीलिए भारत सुवर्णभूमि कहलाया और यहाँ घी–दूध की नदियाँ बहने की बात सिद्ध हुई। इसी ध्वज को लेकर हमने सम्पूर्ण संसार में ज्ञान का प्रसार किया। वाणिज्य, व्यापार, कला–कौशल, सैन्य–संचालन,समाज–व्यवस्था आदि सभी क्षेत्रों में हमने उन्नति की। लौकिक जीवन को पारलौकिक जीवन सम्पादित करने का साधन मानकर हम चले।

इस सम्बन्ध में अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य जी का उदाहरण ऐसा ही है। केवल बत्तीस वर्ष की आयु में उन्होंने कितना बड़ा लोकोद्धार का कार्य कर डाला। क्या कोई कह सकता है कि वे केवल किसी जंगल में एकाकी बैठकर तपस्या करते रहे? उन्होंने चार बार सम्पूर्ण भारत की परिक्रमा की। सब उपनिषदों और गीता पर महाभाष्य लिखे। सम्पूर्ण देश में स्थान–स्थान पर शास्त्रार्थ किये। इस प्रकार महान् कर्ममय जीवन जिया। अत्यन्त अल्पकाल में सम्पूर्ण भारत में नवचैतन्य का संचार किया। यही कर्ममय जीवन जीना इस ध्वज का संदेश है। राष्ट्र की सनातन संस्कृति का यह प्रतीक है। यह ध्वज ही हमारा गुरु है। इसी के मार्गदर्शन में प्रेरणा पाकर हम उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ सकते हैं।

इसलिए हम भली प्रकार समझ लें कि यही हमारे भारतीयत्व का सच्चा

प्रतीक और हमारा राष्ट्रध्वज है।

आजकल कई बार लोग भ्रमवश ऐसा कहते पाये जाते हैं कि प्राचीनकाल में हमारा कोई राष्ट्र नहीं था इसलिए राष्ट्रध्वज भी पहले कभी नहीं था। परन्तु यह अंग्रेजों द्वारा फैलाई गई दुर्बुद्धि का प्रभाव है। अंग्रेजों ने अपना प्रभाव यहाँ निर्माण करने के लिए एक गलत विचारधारा फैलाई कि भारत कभी राष्ट्र नहीं रहा और यह भी कि अंग्रेजों ने ही भारत को सर्वप्रथम एक राष्ट्र होने का बोध कराया। इस गलतफहमी के शिकार होने के कारण ही प्राचीन राष्ट्रजीवन और प्राचीन राष्ट्रध्वज का विस्मरण हुआ। ऐसे लोग नया राष्ट्रध्वज बनाने की कल्पना लेकर आगे बढ़े। अज्ञानवश उन्होंने यह सोचा कि जिस प्रकार भारत को नया राष्ट्र बनाना है वैसे ही उसे नया राष्ट्रध्वज भी देना है। भारत के सनातन राष्ट्रजीवन के विस्मरण का यह दुःखद परिणाम निकला कि लोग राष्ट्रध्वज की खोज करने लगे।

बताया जाता है कि नये राष्ट्रध्वज की खोज भी सबसे पहले विदेश में ही हुई। भारतवर्ष को गुलामी से मुक्त करने के लिए क्रान्ति–आयोजन के कार्यों की शिक्षा लेने के लिए कुछ नवयुवक फ्रांस जा पहुँचे। वहाँ एक स्थान पर बहुत से नवयुवक एकत्रित होकर अपने देश भारत के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे थे कि एक विदेशी एक भारतीय युवक से पूछ बैठा, "बड़ी बातें कर रहे हो, बताओ तुम्हारा झण्डा कौन सा है?" भारतीय युवक निरुत्तर था क्योंकि उसे भारत के राष्ट्रध्वज का ज्ञान नहीं था। उन दिनों भारत में अंग्रेजों का राज्य था और यहाँ यूनियन जैक फहराता था। भारतीय युवक इतना तो जानता था कि यूनियन जैक भारत का ध्वज नहीं है किन्तु उस बेचारे को यह पता नहीं था कि भारत का ध्वज कौन सा है? तब भारतीय युवकों ने फ्रांस में एक ध्वज बनाया। उसमें भारत के प्रान्तों की गिनती के कुछ तारे, कमल के फूल और तीन रंग की पट्टियाँ थीं। यह झण्डा १९०७ में फहराया गया, फिर १९२१ में कांग्रेस के वेज़वाड़ा अधिवेशन में महात्मा गांधी ने तीन रंग की पट्टियों के साथ चरखा लेकर झण्डा प्रदान किया। उस समय अंग्रेजों के खिलाफ आन्दोलन की धूम थी। यह झण्डा आजादी की लड़ाई में अगुवाई करता रहा। लाल, हरा और सफेद रंग के इस झण्डे में लाल रंग हिन्दुओं का, हरा मुसलमानों का तथा सफेद रंग बाकी सबका कहा गया था। किन्तु बाद में अनेक छोटे–छोटे वर्गों की ओर से मांग आने लगी कि उनका अलग रंग भी ध्वज में दिया जाय। इस पर समस्या निर्माण हुई। इस विवाद के हल के लिए एक झण्डा कमेटी बनाई गई। इसके अध्यक्ष पं. जवाहरलाल नेहरू ही थे। इस कमेटी ने भी असंदिग्ध शब्दों में यही निर्णय दिया कि केसरिया ध्वज ही राष्ट्रध्वज हो सकता है। फिर बाद में अंग्रेजों द्वारा प्रसृत मिलीजुली संस्कृति और खिचड़ी राष्ट्रवाद के प्रभाव में आकर झण्डा कमेटी की इस रिपोर्ट को कार्यान्वित नहीं किया गया। तिरंगे झण्डे को ही

स्वीकार कर लिया। केवल भगवा, हरा और सफेद रंगों का अर्थ बदलकर बताया जाने लगा कि ये समूह के द्योतक नहीं गुणों के द्योतक हैं। वह जमाना अंग्रेजों के खिलाफ आजादी की लड़ाई लड़ने का था। राष्ट्र की प्रगति के लिए स्वतंत्रता सर्वप्रथम आवश्यक थी। इसीलिए इसका चलन प्रारम्भ होने पर सबने इसे स्वीकार भी कर लिया। सम्मान भी दिया। यह स्वाभाविक ही था। देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए हुए आन्दोलनों में इसी ध्वज को लेकर त्याग और बलिदान हुए। अनेक लोगों ने यातनाएँ सहीं और फाँसी के फन्दे चूमे। अतः झण्डा कमेटी की रिपोर्ट को न मानते हुए इस ध्वज को स्वीकार कर लिया गया। आज भी उन्हीं रंगों का चक्रांकित तिरंगा ध्वज हमारा राज्यध्वज है और हमारे लिए परम श्रद्धा तथा आदर का केन्द्रबिन्दु है। किन्तु फिर भी यह प्रश्न मन में सहज उठता है कि जितना प्राचीन हमारा राष्ट्रजीवन है, उसकी शताब्दियों लम्बी गौरव परम्परा को व्यक्त करने में क्या यह ध्वज समर्थ हो सकता है? यह सत्य है कि तीस–पैंतीस वर्षों में हुए हमारे त्याग–बलिदान का यह प्रतीक बना किन्तु सहस्रों वर्षों के पौरुष, पराक्रम और श्रेष्ठत्वपूर्ण जीवन के इतिहास को देखते हुए तो यह विचार अधूरा ही माना जावेगा। तराजू के एक ओर हम अपनी तीस–पैंतीस वर्ष की भावनाओं को रखें और दूसरी ओर हजारों वर्षों की भावनाओं को रखें तो कौन सा पलड़ा भारी होगा? निःसंदेह जिस राष्ट्रीय प्रतीक को लेकर वेदकाल से आज तक हम स्फूर्ति पाते रहे, जिसमें सदियों के उत्थान, पतन के रोमांचकारी क्षणों की गाथाएँ गुम्फित हैं, जिसमें त्यागी, तपस्वी, पराक्रमी, दिग्विजयी, ज्ञानी, ऋषि–मुनि, सम्राट्, सेनापति, कवि, साहित्यकार, संन्यासी और असंख्य कर्मयोगियों के चरित्रों का स्मरण अंकित है, जहाँ दार्शनिक उपलब्धियों के साथ जीवन होम करने के असंख्य उदाहरण हमारे स्मृतिपटल पर नाच उठते हैं वह परम पवित्र भगवाध्वज ही हमारी अखण्ड राष्ट्रीय परम्परा का प्रतीक बन कर हमारे सामने उपस्थित होता है। यही सत्य है। यही ध्वज हमें अपने अतीत का ठीक–ठीक ज्ञान कराकर भविष्य की उत्तम प्रेरणा प्रदान करता हुआ वर्तमान में कर्मचेतना जगाने के लिए सक्षम है। यही हमारा स्फूर्ति–केन्द्र है। राष्ट्र को अनन्त काल तक मार्गदर्शन प्रदान करने वाला यही भगवाध्वज हमारा गुरु, हमारा मार्गदर्शक है। इसी के समक्ष नतमस्तक होकर हम अपने जीवन को श्रेष्ठ बना सकते हैं।

☆

१७

विजय-आकांक्षा

विजय-आकांक्षा

मानव की स्थिति और प्रगति उसकी जयिष्णु और सहिष्णु प्रवृत्ति के सामंजस्य पर ही निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा दूसरों पर प्रभाव डालने की, उन पर विजय पाने की रहती है तथा अपने व्यक्तित्व को प्रभावी एवं विजयी बनाने के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है। दौड़–धूप इसीलिए होती रहती है। किन्तु इस प्रकार व्यक्ति–व्यक्ति की विजय की प्रबल आकांक्षा का परिणाम दूसरों का विनाश न हो एवं इस विनाश के कारण दूसरों द्वारा होने वाले सत्य के आविष्कार की सम्भावना भी समाप्त न हो इसके लिए मानव में यह भी आवश्यक समझा है कि वह दूसरों के मतों का आदर करे, तथा उसे सत्य मानकर चले। इस भावना ने ही सहिष्णुता की प्रवृत्ति को जन्म दिया है।

विश्व में भारतवर्ष अपनी चरमकोटि की सहिष्णुता की भावना के लिए प्रसिद्ध है। पश्चिम ने इस सहिष्णुता की भावना का अनुभव अभी–अभी निकट भूत में किया है तथा जनतन्त्र के नाम पर उसके प्रति विश्वास प्रकट करने का प्रयत्न किया है। फिर भी पश्चिमी जीवन में असहिष्णुता इतनी समा गयी है कि सहिष्णुता का राग अलापते रहने पर भी किसी न किसी प्रकार भीषण असहिष्णुता प्रकट हो ही जाती है। अंग्रेजों, फ्रान्सीसियों और डचों की साम्राज्यवादी भावनाएँ, एशिया के लोगों पर यूरोपियन लोगों द्वारा किये गये अत्याचार, ईसाई धर्म के अतिरिक्त सब धर्मों को ओछा मानकर उनके साथ किया हुआ उनका बर्बर धर्मान्तरण का व्यवहार, अंग्रेजों का श्वेत मानवों का बोझ (Whitemen's Burden) अफ्रीका में हब्शियों एवं अन्य अश्वेतों के लिए बनाये गये कानून, अमेरिका में नीग्रो एवं रेड इण्डियनों के प्रति किया गया बर्ताव, तथा जर्मनी, इटली, रूस आदि देशों में उत्पन्न होने वाली फासिस्ट मनोवृत्ति एवं हर पच्चीस वर्ष के बाद युद्ध उनकी इसी असहिष्णु मनोवृत्ति के परिचायक हैं। आज भी पश्चिम में इन जातियों के प्रति, जिन्हें वे हीन मानते हैं, सम्मान और श्रद्धा का भाव उत्पन्न नहीं हुआ है। आज भी वहाँ के विद्वान यूरोप और अमेरिका को ही विश्व पर आधिपत्य कर उसका उपभोग करते रहने का केन्द्र

मानकर सारे संसार को उसी के हितों के अनुसार नाचाना चाहते हैं।

भारत में इसके विपरीत बहुत पहले ही सहिष्णुता की भावना का उदय हो चुका था। दो हजार मील लम्बे और दो हजार मील चौड़े भारत की विविधरूपा प्रकृति ने अन्तर के सत्य का साक्षात्कार कराया। हमने विविधता में एकता की अनुभूति की और इसके परिणामस्वरूप सहिष्णुता की भावनाओं को जन्म दिया। फलतः ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों ही क्षेत्रों में हमने अपनी सहिष्णुता की मनोवृत्ति का परिचय दिया है। **'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'** का आदर्श सामने रखकर ज्ञान के क्षेत्र में, निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त प्रतिपादन कर कर्म के क्षेत्र में तथा एक ही ब्रह्म के विविध रूप भिन्न-भिन्न देवताओं को मानकर भक्ति के क्षेत्र में सहिष्णुता की भावना का विकास किया है। सहिष्णुता हमारे जीवन का अंग बन गई है।

आज पश्चिमी जीवन और उसके इतिहास के प्रति हमारा लगाव हो गया है। वहाँ जो नारे उठाये जाते हैं, उन्हें हम ज्यों के त्यों ग्रहण कर लेने में प्रगति समझने लगे हैं। इस कारण पश्चिम की सहिष्णुता की घोषणा भी हमें बड़ी भारी उपलब्धि लग रही है। इसका एक और भी कुप्रभाव हमारे ऊपर हुआ है कि इस सहिष्णुता के प्रति हमारा अंधाभिमान आत्मनिषेध की सीमा को भी लांघ गया है। स्वयं लांछित और अपमानित होते रहने को हम सहिष्णु होना घोषित करने लगे हैं। इतना ही नहीं सहिष्णुता की भावना पर इतना जोर दिया जाने लगा है कि जीवन की दूसरी आवश्यक प्रवृत्ति अर्थात् जयिष्णु प्रवृत्ति की ओर हमारा दुर्लक्ष्य हो गया है। फलतः सहिष्णुता का अर्थ हो गया है, महत्त्वाकांक्षा से हीन, दुनिया की हर जाति के सामने झुकते जाना, अपने स्वत्व एवं जीवन को बिलकुल धूल में मिला देना। युद्ध चाहे वह आत्मरक्षार्थ ही क्यों न हो हमारे लिए पाप कार्य हो गया है। कोई तुम्हें एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम उसके सामने दूसरा गाल भी कर दो– इस सिद्धान्त के ऊपर इतना आग्रह हो गया है कि हम अपमानों की भी चिन्ता नहीं कर रहे हैं।

वास्तव में तो सहिष्णुता के समान ही जयिष्णुता का सिद्धान्त भी आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि जयिष्णुता अधिक आवश्यक है तो अनुचित नहीं होगा। बिना जयिष्णुता की भावना के कोई समाज न तो जीवित ही रह सकता है और न ही अपने जीवन का विकास ही कर सकता है। कोई भी व्यक्ति अथवा समाज केवल श्वासोच्छ्वास के लिए जीवित नहीं रहता, अपितु वह किसी आदर्श के लिए जिन्दा रहता है तथा आवश्यकता पड़ने पर उस आदर्श की रक्षा के लिए अपने जीवन की परिसमाप्ति भी कर देता है। आदर्शवादी व्यक्तियों ने ही सब प्रकार की कठिनाइयाँ झेलकर भी संसार को आगे बढ़ाया है। जिनके जीवन में अपने आदर्शों को विजयी बनाने की महत्त्वाकांक्षा है वे ही संसार के निराशामय वातावरण से ऊपर उठकर कुछ कर पाते हैं तथा दूसरों के लिए प्रकाशपुञ्ज बनकर मार्गदर्शक हो जाते हैं।

दुनियां के नये–नये देशों की खोज करने वाले, प्रकृति के गुह्यतम सिद्धान्तों को ढूँढ़ निकालने वाले, ब्रह्म और जीव के अभेद का साक्षात्कार करने वाले, दुःखी मानवों को शान्ति और सत्य का उपदेश देने वाले, ये सबके सब अपने जीवन में एक महत्त्वाकांक्षा लेकर आये और उसे प्राप्त करने के निमित्त ही जीवन भर प्रयत्न करते रहे।

भारतवर्ष ने इस विजिगीषु वृत्ति का महत्त्व सदा ही समझा है और इसीलिए विजयादशमी जैसे शक्ति पूजा के त्यौहारों की योजना की गई है। विजयादशमी हमारी विजयों का स्मारक तथा भावी विजयों का प्रेरक है। यह दिन हमको प्रतिवर्ष याद दिलाने आता है कि हमें दुनियां में विजय करनी है। हम पराजय के लिए अथवा उदासीन बनकर केवल **'आहारनिद्राभयमैथुनं च'** तक ही अपने जीवन को सीमित करने के लिए नहीं, अपितु विजय के लिए पैदा हुए हैं।

विजय के लिए सीमोल्लंघन आवश्यक है। किन्तु आज हमने अपने जीवन की सीमाएँ बना रखी हैं। स्वार्थ और अज्ञान के संकुचित दायरे में हमने कूपमण्डूक के समान अपने जीवन को सीमित कर दिया है। हमें अपनी सीमाएँ तोड़नी होंगी। जो इन सीमाओं के बाहर नहीं जा सकता वह विजय भी नहीं प्राप्त कर सकता। सीमोल्लंघन और विजय केवल सेना और शस्त्रास्त्रों से सज्ज होकर शत्रु के राज्य में कूच करके परास्त करने से नहीं होती अपितु विचारों और भावनाओं के जगत् में भी हमारे अनेक शत्रु हैं जिनको पराजित कर हम अपनी विजय मना सकते हैं।

दुर्गा, रघु, राम और सिद्धार्थ के जीवन की घटनाएँ विजयादशमी के साथ सम्बद्ध हैं। इनमें से प्रत्येक ने विभिन्न क्षेत्रों में तथा विभिन्न प्रकार से विजय प्राप्त की। क्षेत्रों की विभिन्नता होते हुए भी उनकी प्रवृत्ति की एकता स्पष्ट है। अतः हमारे जीवन में उनकी सी एक ध्येयनिष्ठा तथा अपने जीवन के संकुचित दायरे से बाहर निकलकर आदर्श को प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा रही तो हम भी जीवन में विजय प्राप्त कर सकेंगे।

☆

१८

सारांश (जीवन दर्शन)

सारांश

देश आजाद हुए इतने वर्ष बीतने के बाद भी देश में चैतन्य क्यों निर्माण नहीं हुआ ? गरीबी–भुखमरी, बेरोजगारी, निराशा और लाचारी क्यों बढ़ती गई ? राष्ट्रीय चरित्र का ह्रास क्यों हुआ ? आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक सभी क्षेत्रों में क्रमशः गिरावट क्यों आती गई और राष्ट्रजीवन प्रवाहपतित क्यों हो गया ? हम इस प्रकार क्यों बहते चले जा रहे हैं ? निःसन्देह इसका एक ही उत्तर है कि हम अपने पैरों पर नहीं खड़े हैं। जिन्होंने अपना आधार खो दिया हो उन्हें बहना ही पड़ेगा। एक वृक्ष जो जड़ से उखड़ गया है तथा बाढ़ के प्रवाह में आ गया है, जल की प्रत्येक धारा के साथ इधर–उधर फेंका जाता है। हमारा सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन अपना जड़मूल खो बैठा। इस पतन को रोकने का केवल एक ही उपाय है कि राष्ट्र–जीवन का सच्चा साक्षात्कार किया जाये। बिना शुद्ध राष्ट्रभाव के कोई भी राष्ट्र प्रगति की कौन कहे अपनी स्वतंत्रता भी टिकाये नहीं रख सकता। राष्ट्र के परम्परागत इतिहास से प्रकट होने वाला राष्ट्रीयत्व का ज्ञान धूमिल पड़ने के कारण ही हम इन विपत्तियों में आ फँसे हैं। इसमें से उबरने के लिए राष्ट्र का भावात्मक आधार स्पष्ट करना होगा। राष्ट्रीय आदर्शों और आकांक्षाओं की जड़ें मजबूत होने से ही महान् शक्ति उत्पन्न हो सकेगी। राष्ट्र के स्वरूप का परम्परागत सच्चा साक्षात्कार होने से राष्ट्रीय जीवनोद्देश्य का ज्ञान होता है और राष्ट्रजीवन चैतन्य से भर जाता है। राष्ट्र के इस सच्चे साक्षात्कार के अभाव में ही हमारे वर्तमान राष्ट्रीय पतन का मूल कारण निहित है।

बहुत काल से भारत के सच्चे राष्ट्र–बोध के प्रति हम उपेक्षा बरतते जा रहे हैं। आजादी की लड़ाई के दिनों में भी हमारा ध्यान जितना चाहिए था उतना इस ओर नहीं रहा। फिर भी जब देश गुलाम था और यहाँ अंग्रेजों का राज्य था तब राष्ट्रव्यापी दृष्टि से सभी लोगों को एकत्रित करने का सुगम ध्येय उपस्थित था और वह था भारत में अंग्रेज राज्य सत्ता को उखाड़ फेंकना। इस कार्य में विचार विभिन्नता भले ही रही हो किन्तु एक सरल बात सबकी समझ में आती थी कि जब

तक अंग्रेजों का राज्य है और देश गुलाम है, तब तक हम अपने राष्ट्रीय जीवनोद्देश्य को न तो प्रकट कर सकते हैं और न ही उसकी स्थापना का प्रयत्न कर सकते हैं। गुलामी सबसे बड़ी बाधा थी। राष्ट्र के सब प्रश्न और सभी समस्याओं पर सबका एकमत हो गया था कि वे अंग्रेजों के भारत में रहने के कारण हैं। लोग इस बात को भलीभांति समझ पाते थे कि जब तक अंग्रेजों का राज्य भारत पर छाया हुआ है हम अपनी राष्ट्रीय प्रकृति और प्रतिभा के अनुरूप इन समस्याओं का निराकरण करने में असमर्थ हैं। परतंत्रता हमारे इन सभी प्रयत्नों में बाधास्वरूप थी। इस स्थिति में सम्पूर्ण देश एक लक्ष्य याने 'अंग्रेजों को भारत से खदेड़ दो', पाकर जाग उठा। महान् बलिदान और त्याग के उदाहरण प्रकट हुए। किन्तु यह लक्ष्य परिस्थितियों पर निर्भर था। राष्ट्रोन्नति का शाश्वत आधार तो चिरन्तन लक्ष्य ही हो सकता है। वह चिरन्तन लक्ष्य है राष्ट्र की शताब्दियों लम्बी जीवनधारा का सच्चा बोध प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में जाग्रत होना। दुर्भाग्य से इस लक्ष्य की ओर हम उस समय उदासीन बन बैठे। हमारे सम्पूर्ण स्वतंत्रता संग्राम में अंग्रेज विरोध ही हमारी देशभक्ति का मुख्य आधार बना रहा। राष्ट्र-जीवन का भावात्मक ज्ञान और तदनुसार स्व-तन्त्र पर आधारित चिन्तन को यह मानकर कि गुलामी जब तक है तब तक यह व्यर्थ ही है, महत्त्वहीन समझा जाता रहा। अंग्रेजों का राज्य समाप्त करना ही स्वतन्त्रता प्राप्ति का मुख्य लक्ष्य बना रहा।

फिर सन् १९४७ में हम स्वतंत्र हुए। अंग्रेज भारत छोड़कर चले गए। हमने अनुभव किया कि राष्ट्र-निर्माण के हमारे प्रयत्नों में जो सबसे बड़ी बाधा समझी जाती थी वह टूट गई। परकीय सत्ता जो हमें अपनी इच्छानुसार अपने जीवन-निर्माण से रोके थी, नहीं रही। तब सबके सामने सहसा यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि बहुत प्रयास से अर्जित इस स्वतंत्रता का अर्थ क्या है? हमें अपना जीवन किस ढाँचे में ढालना है? राष्ट्र के नाते भारत के जीवन आदर्श और कार्य-सिद्धान्त क्या हैं? किन्तु राष्ट्र जीवन के शुद्ध साक्षात्कार के अभाव में प्राप्त स्वतंत्रता का उपयोग हम राष्ट्रीय आदर्शों को चरितार्थ करने के लिए नहीं कर पाये। परानुकरण चल पड़ा। यहाँ तक कि संविधान बनाते समय भी हमने अपनी राष्ट्रीय प्रकृति के आदर्शों को उसमें प्रतिबिम्बित नहीं किया। विदेशों के घोषित सिद्धान्तों को जोड़-तोड़कर हमने सन्तोष कर लिया। इस मूल प्रश्न को कि हमें अपने भारत राष्ट्र का जीवन किस ढाँचे में ढालना है? आज तक हल नहीं कर पाये। अपने स्वत्व का ठीक-ठीक विचार न करने के कारण ही हम अपने पैरों पर खड़े न हो सके। राष्ट्र के वैभव के लिए किये गए हमारे सब प्रकार के प्रयत्नों में यह मूल तथ्य ही गायब रहा कि हमारे राष्ट्रीय वैभव की कल्पना क्या है? उस वैभव का स्वरूप क्या है? बहुत लोगों ने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया तो भी यही दिखाई देता है। उनके उत्तर

प्रायः भारत के बाहर की जीवन-पद्धतियों के आधार पर दिये गये हैं। कोई समाज-वादी आधार पर समाज रचना करना चाहता है तो कोई साम्यवादी आधार पर, और कोई समाजवाद के साथ व्यक्ति-स्वातंत्र्य का मेल बैठा कर प्रजातांत्रिक समाजवाद की बात करता है। विदेशों से ली गई इन विचार-धाराओं के आधार पर सब प्रयत्न होते हुए दिखाई देते हैं। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों में चिन्तन का आधार विदेशी विचार पद्धतियों पर ही बना हुआ है। ऐसा दिखाई देता है मानो हमारे इस अतिप्राचीन राष्ट्र-जीवन में इन सब बातों के सम्बन्ध में कभी कोई विचार ही नहीं हुआ हो अथवा यह कि हमारा राष्ट्रजीवन महज कुछ वर्षों की ही उपज हो। विदेशों से उधार ली गई इन विचार-धाराओं में हमारे राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता प्रकट होने से रही। इसलिए ये राष्ट्रीय मानस को छू सकने में असमर्थ हैं। लोग इनसे त्याग, परिश्रम और बलिदान की प्रेरणा ग्रहण नहीं कर सकते। यही कारण है जो आज देश में निराशा का वायुमंडल फैला है। राष्ट्र आत्मविश्वास खो बैठा है। कर्मचेतना सो गई है और इतना बड़ा करोड़ों का समाज सब बातों में परावलम्बी होकर जीवन जी रहा है।

स्वाभिमानी विचार

इन विदेशी विचारधाराओं के पीछे इस प्रकार आँख मूँदकर चलते जाना क्या योग्य है? क्या यह स्थिति हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान पर चोट नहीं करती? इन विदेशी विचारधाराओं के आधार पर होने वाले प्रयत्नों की घोषित सफलताओं की सम्भावना को यदि हम एक बार मान भी लें तो भी क्या यह कम अपमानजनक है कि विदेशी वादों पर हम निर्भर होते जा रहे हैं। निःसंदेह यदि हम राष्ट्रीय स्वाभिमान को अन्तःकरण में धारण कर विचार करेंगे तो हमें कहना पड़ेगा कि इस प्रकार विदेशों के विचार-वादों को लेना हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान के अनुकूल बात नहीं है।

कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं कि इस सम्बन्ध में व्यर्थ ही स्वाभिमान का झगड़ा क्यों खड़ा करते हो? अगर कोई चीज अच्छी उपयोगी है, तो वह बाहर कहीं से भी लेनी ही चाहिए। विचारों के सम्बन्ध में ऐसा राष्ट्रीय अहंकार बीच में लाकर खड़ा करना कि नहीं, यह दूसरे का है इसलिए हम नहीं लेंगे, कहाँ तक बुद्धिमानी की बात है? किन्तु इस तर्क में जो वजन है उसको स्वीकार करते हुए भी इतना तो मानना ही होगा कि राष्ट्रीय स्वाभिमान जैसी कोई वस्तु होती अवश्य है क्योंकि स्वाभिमान हृदय की एक बलवती भावना है। मैं समझता हूँ कि यह भावना राष्ट्र और व्यक्ति दोनों के विकास के लिए आवश्यक भी है। हमें गुलामी से मुक्त होकर स्वतन्त्र होने की प्रेरणा भी इसी भाव से प्राप्त हुई। देश स्वतंत्र होने के बाद भारत का अपना ध्वज, अपना संविधान, अपनी व्यवस्था आदि बनाने की जो बातें हमने

गौरवपूर्ण ढंग से ग्रहण कीं वे सब इसी स्वाभिमानी वृत्ति की परिचायक हैं। अन्तर्राष्ट्रीय खेल प्रतियोगिताओं में जब अपने देश का नागरिक जीतता है और स्वर्णपदक पाता है तो हम इसी भावना से हर्ष प्रकट करते हैं। यह स्वाभिमान न हो तो कोई जीते, केई हारे हमें भला उससे क्या लेना–देना है। साफ है कि राष्ट्रीय स्वाभिमान जैसी कोई वस्तु अवश्य रहती है जो किसी भी स्वतंत्र देश के लिए कम महत्त्व की बात नहीं है। स्वाभिमान में ममत्व छिपा रहता है। इस अपनेपन में ही कार्य की प्रेरणा का वह तत्त्व निहित है जिसे हम 'अहम्' कहते हैं। यह 'अहम्' का भाव ही है जो राष्ट्र के घटकों को नवनिर्माण और नवीन आविष्कारों की प्रेरणा देता है। इसी आधार पर स्वाधीन राष्ट्र विकट प्रसंगों में ऐसे साहसी निर्णय लेने में सफल होते हैं जो ऐतिहासिक माने जाते हैं। इसलिए मानना होगा कि उपरोक्त तर्क के बावजूद भी विदेशी वादों और विचार–प्रवाहों को ओढ़ते चले जाना राष्ट्रीय स्वाभिमान के अनुकूल बात नहीं है।

परस्पर आदान–प्रदान की विधि

फिर प्रश्न उपस्थित होता है, राष्ट्रों के परस्पर आदान–प्रदान की समस्या का। इस सम्बन्ध में भी राष्ट्रीय स्वाभिमान ही वह निर्णायक तत्त्व है जो परस्पर आदान–प्रदान की मर्यादा निश्चित करता है। जागतिक हलचल में विभिन्न राष्ट्र अनेक कारणों से एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं जिनमें विचार–धाराओं का आदान–प्रदान भी होता है। विश्व के समस्त व्यवहार में परस्पर आदान–प्रदान होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। विभिन्न परिस्थितियों और आवश्यकताओं में यह आदान–प्रदान जरूरी ही नहीं शक्ति–संवर्धक भी होता है। किन्तु यदि हम थोड़ा विचार करें तो हमें पता चलेगा कि जो राष्ट्र स्वस्थ और स्वाभिमानी रहते हैं वे किसी भी वस्तु को ग्रहण करते समय उसे एक ऐसे ढंग से स्वीकार करते हैं कि वह राष्ट्रीय आदर्शों और आकांक्षाओं की पूरक बनकर आये। इस तथ्य को ठीक–ठीक समझने के लिए हम मनुष्य शरीर का उदाहरण ले सकते हैं। सभी लोग सृष्टि के इस नियम को भलीभांति जानते हैं कि विजातीय द्रव्य किसी भी शरीर में प्रवेश करने पर रोग और उपद्रव के कारण बनते हैं। इसलिए स्वस्थ शरीर का यह लक्षण माना जाता है कि वह उन्हीं विजातीय द्रव्यों को, उतने ही परिमाण और वैसी ही विधि से ग्रहण करे जिसे वह अपना बना सके। अधिक क्यों गेहूँ, चावल जैसे अन्न भी मनुष्य सहसा वैसे के वैसे ही ठूँस नहीं लेता। भोजन की प्रत्येक वस्तु इस ढंग से ली जाती है कि वह शरीर में विद्यमान रक्त को बढ़ाने में सहायक हो। यही बात हम कुटुम्बों के परस्पर व्यवहार में घटित हुई देख सकते हैं। कोई कुटुम्ब ऐसा दावा नहीं कर सकता कि उसके यहाँ दूसरे कुटुम्ब से लेन–देन का कोई व्यवहार नहीं होता। यह

असम्भव है। विवाह जैसे आवश्यक कार्य तो विभिन्न कुटुम्बों के बीच ही होते हैं। किन्तु सभी जानते हैं कि अन्य कुटुम्ब से कन्या (दान) ग्रहण करते समय उसे सब भाँति अपना बनाकर होता है। इसी प्रकार राष्ट्रों के बीच होने वाले आदान–प्रदान में भी सावधानी बरतनी होती है। राष्ट्र के जीवन–मूल्य, जीवन–पद्धति, आदर्श और सांस्कृतिक जीवनधारा के अनुरूप जो कुछ स्वीकार किया जाता है वह एकरसता निर्माण करता है और राष्ट्र को पुष्ट करता है। इसके विपरीत जो बेमेल और विरोधी होता है वह अशान्ति, उपद्रव और रोग का कारण बनता है। अन्त में विनाश का कारण भी बनता है। हम यदि अपने ही देश का उदाहरण देखें तो हमें पता चलेगा कि अपने राष्ट्रजीवन में शक, हूण, कुशाण आदि कई जातियाँ आईं और समा गईं। राष्ट्र–जीवन–धारा शक्तिशाली होने के कारण वे एकरस बनकर राष्ट्र की ऐसी अभिन्न अंग बन गईं कि उन्हें आज अलग से खोजना भी असम्भव है।

किन्तु बाद में राष्ट्र स्वाभिमान क्षीण पड़ा, राष्ट्र–जीवन गुलामी के काल–खण्ड में क्रमशः विस्मृत होता गया, अपने राष्ट्रीय जीवन–सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा शिथिल पड़ी तो देश दुरवस्था की ओर खिसकता गया। बेमेल सम्मिलन के ईरग्रह की भूल में राष्ट्र को बड़े कटु अनुभव झेलना पड़े। एकरसता का मुख्य सिद्धान्त है अपनी समस्त निष्ठाओं का राष्ट्र के भीतर निवास। इस एकरसता को ताक में रखकर भारत–बाह्य निष्ठाओं को भी गले लगाने का यत्न हुआ। परिणाम हमारे सामने बहुत स्पष्ट है। मुस्लिम लीग को गले लगाने का परिणाम भारत–विभाजन में प्रकट हुआ। मुस्लिम लीग की प्रेरणा का केन्द्र सदा से भारत–बाह्य रहा है।

एक बार मुस्लिम लीग के कराची अधिवेशन में इस बात की कोशिश की गई थी कि भारत के मुसलमानों को अधिवेशन में अरब का दृश्य बनाकर दिखाया जाये। इसके लिए खजूर के वृक्ष और बालू के ढेर भी जुटाये गये थे। यह कार्य उनके प्रेरणा–केन्द्र भारत–बाह्य होने के कारण ही हुआ था। यदि देश में रहनेवाले ऐसे मुसलमानों का प्रेरणा–केन्द्र भारत नहीं अरब देश है तो निश्चित ही वे सब बातों में उसी ओर देखेंगे। हृदय में भारत की कोई भी झांकी अंकित नहीं होगी। भारत की नदियां, पहाड़, जमीन सब बातें हेय लगेंगीं। विविध प्रकार के प्राकृतिक मनोरम दृश्य और वहाँ की जलवायु के सुखद स्पर्श उन्हें प्रसन्न नहीं बना सकेंगे। तब बाहर से प्राप्त उत्सवों और रीति–रिवाजों के साथ इस देश की उपज, बनस्पति, बहार पतझड़ का मेल नहीं बैठ पाता। परिणाम यह है कि मुस्लिम लीग फिर सिर उठा रही है, अलगाव तथा विघटन के बीज बो रही है। इसी प्रकार कम्युनिस्टों का भी हाल वे भी अराजकता अशान्ति के कार्य करने में किसी प्रकार का बुरा नहीं समझते। इन सब खराबियों का मुख्य कारण इन लोगों के प्रेरणा–केन्द्र भारत से बाहर होना ही है।

हमारी आन्तरिक स्वावलम्बन–भावना को क्षीण करते रहते हैं। और एक समय ऐसा आता है जब सम्पूर्ण जातीय जीवन ही नष्ट होने का संकट उपस्थित हो जाता है। विश्व में बड़ी–बड़ी जातियाँ इसी प्रकार नष्ट हो गईं। हम भी यदि सम्पूर्ण जीवन के क्रियाकलाप बाहर की अंधी नकल पर ही आधारित करते चले तो प्रगति नहीं कर सकेंगे। ऐसे अनुकरण से विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसलिए सम्पूर्ण जीवन का आधार स्वाभिमान ही हो सकता है और वही हमें विश्व से योग्य बातों के परस्पर आदान–प्रदान की संतुलित पद्धति का मार्गदर्शन भी करा सकता है।

आधुनिक प्रगति की दिशा

साथ ही सोचना चाहिए कि हमारा राष्ट्र कोई ऐसा भू–प्रदेश तो है नहीं कि जो आज सहसा समुद्र से उभरकर ऊपर आ टिका हो। हमारा सहस्रों वर्षों का राष्ट्र–जीवन इस भूमि में रहा है। इतने लम्बे काल–खण्ड में हमारी प्रकृति और परम्परा अक्षुण्ण रही। हमें इसका ठीक विचार कर अपनी प्रतिभा के भरोसे आधुनिक प्रगति की दिशा निर्धारित करनी होगी। हमारी जीवनपद्धति हमारा मार्गदर्शन करने के लिए विद्यमान है। यह सही है कि हम हजारों वर्षों के इतिहास को जैसा का वैसा लेकर नहीं चल सकते। तथापि हमारी जीवनपद्धति के जो मूल तत्व हैं, उन्हें भुलाकर भी हम नहीं चल सकते। हमें उन्हें युगानुकूल बनाकर ग्रहण करना होगा। नूतन सूझ–बूझ और पुरातन गुण–गरिमा का मणिकांचन संयोग उपस्थित करते चलना होगा। आधुनिक कार्य–योजना और पुरातन सन्दर्भ–शिक्षा लेकर नव–निर्माण के चरण बढ़ाने होंगे।

हमारा लक्ष्य क्या है ?

तब प्रश्न उपस्थित होता है कि हमारा लक्ष्य क्या है ? हमें कहाँ पहुँचना है ? अपनी प्रतिभा और प्रकृति के बल पर प्राप्त होने वाली हमारी उपलब्धि का स्वरूप क्या है ? जिस स्थान पर जाना है उसके अनुरूप हमें साधनों का विचार करना पड़ेगा जो यात्रा में आवश्यक है। परन्तु जो कहीं जाने वाला नहीं, जिसका लक्ष्य तय नहीं यदि वह यात्रा की आवश्यक वस्तुएँ जुटाने का प्रयास करेगा तो उसका प्रयास व्यर्थ है। इसी तरह हमारे राष्ट्रीय जीवन की यात्रा है। यह यात्रा कहाँ से प्रारम्भ हुई। कहाँ पर समाप्त होगी ? इसका विचार करने पर हम कुछ बातें निश्चित कर पाते हैं।

मनुष्य अपनी जीवनयात्रा में कुछ चीजें करता है, कुछ नहीं करता। जो सुखकारक है वह करता है, जो सुखकारक नहीं हैं वह नहीं करता। प्रश्न यह उठता

है कि 'सुख' है क्या ? व्यावहारिक रूप से इसका विवेचन करने के लिए एक दूसरा प्रश्न उठता है कि यह सुख किसका ? हम कहेंगे कि इन्द्रिय का सुख। पर इतना कह देना पर्याप्त नहीं है। केवल इन्द्रिय सुख से ही काम नहीं चलता। कई बार ऐसे अवसर आते हैं कि जब हम इन्द्रियों के सुख की वस्तु को त्याग देते हैं। उदाहरण के लिए हम भोजन करते हैं तो इन्द्रिय सुख जरूर मिलता है। पर क्या हम शत्रु के यहाँ भोजन करेंगे ? जिससे हमारा मनमुटाव हो गया, जो हमारा तिरस्कार करता है, हम उसके यहाँ भोजन नहीं करते। इसका अर्थ यह नहीं कि वहाँ भोजन करने से हमें इन्द्रिय सुख नहीं मिलता, इन्द्रिय सुख तो मिलता है पर मन गवाही नहीं देता, मन को सुख नहीं मिलता। अतएव सुख का सम्बन्ध केवल इन्द्रियों से ही नहीं मन से भी है। साथ ही बुद्धि को भी सुख की जरूरत होती है। बुद्धि को भी शक्ति की जरूरत होती है। एक पागल व्यक्ति हृष्ट–पुष्ट हो जाता है, कई बार उसे सुख भी होता है परन्तु उसकी बुद्धि अविकसित रहती है, उसकी बुद्धि में कष्ट रहता है और इस कष्ट के कारण उसे खाने–पीने के बाद भी चैन नहीं रहता अर्थात् सुख मन का चाहिए, बुद्धि का चाहिए और इसके आगे भी आत्मा का चाहिए। साधारणतया हम यह मान कर चलते है कि जब हम सुख की कल्पना करते हैं तो उसमें इन्द्रियों का सुख, मन का सुख, बुद्धि का सुख एवं आत्मा का सुख सभी का संयोग होना चाहिए। जिन साधनों द्वारा ऊपर कथित चार तत्त्वों का पूर्ण विकास हो सके– वही हमें अपनाना चाहिए, जिससे सुख प्राप्त हो सके।

सुख प्राप्ति के साधन

सुख–प्राप्ति के लिए जिन साधनों को अपनाने के लिए हमें अभ्यास करना चाहिए उन्हें हमारे यहाँ 'पुरुषार्थ' कहा गया है। वह पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष चार प्रकार का हो सकता है। ये चारों पुरुषार्थ एक दूसरे के पूरक होते है। अर्थ पुरुषार्थ शरीर के लिए, धर्म पुरुषार्थ समाज के लिए, काम पुरुषार्थ कामना के लिए और मोक्ष पुरुषार्थ आत्मा के लिए अर्थात् इन चारों पुरुषार्थों के समावेश से ही मनुष्य उन्नति कर सकता है। मनुष्य जब चारों के लिए प्रयत्नशील होगा, चारों की प्राप्ति का प्रयास करेगा तो उसे सुख मिल सकेगा। अब विचार होता है कि क्या कोई एक पुरुषार्थ ऐसा है जिसकी प्राप्ति हो, और शेष सारी चीजें स्वयं प्राप्त हो जायं। हमारे यहाँ अनेक लोगों ने इसके भिन्न उत्तर दिये हैं और सभी अपने–अपने उत्तर को महत्त्व देते हैं। जैसे कालेज में अर्थशास्त्र या तर्कशास्त्र पढ़ने वाला अपने शास्त्र को ही प्रमुख शास्त्र कहता है, उसी तरह यहाँ भी किसी का मत है कि 'अर्थ' ही प्रमुख है। तो कोई कहता है कि प्रमुख 'काम' है। किसी ने कहा कि 'धर्म' प्रमुख है तथा किसी ने 'मोक्ष' को महत्व दिया। अनेक बार ऐसा विवाद हुआ है कि हमें धर्म को

आधार मानकर चलना चाहिए तो कुछ का कहना है कि अर्थ सबसे बड़ा है, उसके बिना धर्म नहीं चलेगा।

जब हम 'धर्म' शब्द का प्रयोग करते है तो उसके अन्दर अर्थशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र दोनों आ जाते है। यद्यपि कुछ चीजें अर्थशास्त्र एवं राजनीति शास्त्र की धर्म के अन्तर्गत आ जाती है फिर भी अर्थ–पुरुषार्थ की सत्ता अलग है। कहा गया है कि अर्थ सब चीजों का आधार है, धर्म उसी पर टिकता है। अर्थ नहीं रहेगा तो धर्म नहीं चलेगा अतएव राज की भी आवश्यकता इसी आधार पर प्रतिपादित की गयी है और उसी के आधार पर धर्म हमारे यहाँ चलता है।

यदि अर्थ का अभाव हो जायगा तो धर्म भी समाप्त हो जायगा। पर्याप्त मात्रा में अर्थ होगा तो सभी चीजें ठीक होंगी। कहते है विश्वामित्र पर जब भूखे मरने की नौबत आ पड़ी तो उन्होंने चाण्डाल के यहाँ से जूठा कुत्ते का मांस चोरी करके खाया। चाण्डाल के शंका करने पर उन्होनें कहा, इसमें अधर्म कुछ नहीं है। सब धर्मों का आधार प्राण–रक्षा है– सुख प्राणों को तृप्त करने वाली चीज को कहते है। प्राण को धर्म का आधार कहा और प्राण–रक्षा अर्थबाहुल्य से ही सम्भव है। जिसके पास अर्थ नहीं, उसको कोई नहीं पूछता। पर इस अर्थ में ही यदि धर्म का भाव छोड़ दिया तो अनर्थ हो जाना स्वाभाविक हैं।

राज्य केवल इसलिए आया कि वह 'धर्म' को चलाकर चले। शास्त्रकारों ने अर्थ को सबका मूल कहा है। कुछ ने यह भी कहा है कि सबसे बड़ी वस्तु काम है, यह न रहा तो सब चीज बेकार है। विदुर जी ने कहा है कि अर्थ बन्धनकारक है, धर्म बन्धनकारक है और काम तो बन्धकारक है ही। सबसे बड़ी वसतु मोक्ष है– मोक्ष प्राप्ति के बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रहता, फिर कोई कामना भी नही रहती। इसलिए निष्काम भाव से मोक्ष पा लेना--यही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। विदुर के इस विवाद का अन्त युधिष्ठिर ने किया। उन्होंने कहा कि कोई भी एक पुरुषार्थ बड़ा नहीं है– चारों को जो एक साथ लेकर चलेगा वहीं पुण्य है। एक को पाने का जो प्रयास करेगा, वह अधूरा है और एक को प्राप्त करने का प्रयास करने वाला पापी भी है। एक का विचार करना मानव–जीवन के टुकड़े करना है, किन्तु यह सत्य है कि मानव–जीवन के टुकड़े नहीं किये जा सकते है। कई बार लोग खण्ड–खण्ड करके विचार करते है, जिसके कारण गलती होती है, क्योंकि वह विचार जीवन के एक अंग के बारे में रहता है, पश्चिम में इसी प्रकार टुकडे–टुकड़े करके विचार हुआ। पालिटिक्स है तो केवल 'मैन इज़ ए पोलीटिकल बीइंग" का विचार करेगा, 'इकानामिक्स' में 'इकानामिक मैन' की कल्पना की गई, जिसका एक ही जीवन है और जिसमें अर्थशास्त्र की क्रियाएँ एवं सिद्धांतों का ही विचार होता है। जबकि वास्तविक जीवन में ऐसा होता नही। आर्थिक क्रियाओं के पीछे केवल अर्थ एवं

उपयोगिता के सिद्धान्त काम नहीं करते वरन् कुछ और भी भावनाएँ काम करती हैं, जैसे अपने देश में बनी वस्तु मंहगी होने पर भी, कम उपयोगी होने पर भी खरीदी जाती है। इसी प्रकार जब बालक हठ करता है तो उसकी इच्छित वस्तु खरीदनी ही पड़ती है, चाहे उपयोगिता की दृष्टि से न्यून ही क्यों न हो। ऐसे समय में यदि हम अर्थशास्त्र का ही विचार करें तो अनर्थ हो सकता हैं। वास्तविकता यह है कि हमें मानव दृष्टि से विचार करना चाहिए। मनुष्य की अनेक भावनाएँ है। केवल एक मनोवृत्ति का विचार न करें तब तो चारों पुरुषार्थ को समान मान कर हमें चारों की उपासना करनी चाहिए।

चारों पुरुषार्थों का आधार धर्म

इन चारों का आधार–स्तम्भ यदि कोई हो सकता है तो वह धर्म ही है। धर्म से अर्थ एवं काम की प्राप्ति होती है। यद्यपि धर्म टिकता है अर्थ एवं काम पर परन्तु यदि इसमें धर्म का आधार छोड दिया जाय तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है और यदि धर्म उसमें जोड़ दिया जाए तो अर्थ ही हमारे काम की प्राप्ति का साधन होगा। धर्म और अर्थ एक दूसरे के पोषक होते है। मनु ने धर्म के दस लक्ष्मण गिनाए हैं– "धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं"

आदि इन्हीं के आधार पर अर्थ की प्राप्ति होती है।

"धारणाद्धर्ममित्याहुः" में धृति पहली चीज कही गई है जो कि किसी भी चीज की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। धनार्जन में भी धैर्य रखना आवश्यक होता है जो धैर्य रखकर प्रयत्न नहीं कर सकता, वह पैसा भी कमा नहीं सकता। धर्म का दूसरा लक्षण है क्षमा। जो व्यवहार में अच्छा है। व्यवहार में कोई बात उलटी–सुलटी आ गई तो गम खा लेगा, लड़ेगा नहीं, ऐसा क्षमा–शील है–शायद क्षमा व्यापार–वृद्धि एवं अर्थार्जन के लिए भी आवश्यक है। जो दूसरों के अवगुण को क्षमा करके चल नहीं सकता, वह अर्थार्जन भी नहीं कर सकता। धर्म का तीसरा लक्षण सत्य है। सत्य का अर्थ है, मन, वचन, कर्म की एकता। आजकल लोग सोचते है कि व्यवसाय में असत्य ही चलता है पर यह गलत है। सत्य को यदि जीवन से निकाल दिया जाय तो कुछ काम नहीं चल सकता। पारस्परिक विश्वास सत्य के आधार पर ही सम्भव है। इस सत्य से हमारा व्यवसाय भी बढ़ता चला जायगा। यदि हमने सत्य का पालन नहीं किया तो व्यवस्था में पूर्ण गड़बड़ी आ जायगी। आज की जो व्यावहारिक कठिनाइयां हम देखते है, इसका कारण यही है कि आज सामान्य रीति से धर्म के सिद्धान्तों का हम पालन नहीं करते।

अतएव हमें धर्म के आधार पर चलना होगा, अपने जीवन में सत्य धर्म को

सम्यक् प्रकार से प्रतिष्ठित करना होगा। सारांश यह कि धर्म से हर प्रकार अर्थ की प्राप्ति सम्भव है। दूसरी ओर अर्थ से धर्म टिकता है। यदि अर्थ प्रचुर मात्रा में हुआ तो धर्म का ठीक प्रकार से पालन होता है अन्यथा इसके अभाव में लोग परस्पर लड़ते है अधर्म होता है। अतएव हमारे यहाँ जो नियम बने वे समृद्धि काल की याद दिलाते है, अर्थात् जिस समय हमारे यहाँ नियम बने उस समय देश समृद्ध था।

समृद्धि का आधार धर्म है। इस सम्बन्ध में हम पाते है कि हमारा आधार धर्म, अभावात्मक नहीं है। हमारे यहां अभाव का नहीं वरन् संयम का विचार किया है। सादा जीवन का विचार किया है, हमने जीवन मे सादगी रखने का विचार इसलिए नहीं किया कि हमारे यहां खाने–पीने की कमी है वरन् इसलिए कि हमारे यहाँ पर्याप्त समृद्धि रही और रहना चाहिए। जीवन में अभाव नहीं रहना चाहिए। ये सब परस्पर अवलम्बित बातें है।

हम प्राण–रक्षा के लिए अन्न खाते है। यदि प्राण नहीं और मुर्दे का मुँह फाड़कर जबरदस्ती उसमें अन्न डाल दिया जाय तब भी वह पचने का नहीं। दूसरी ओर यदि प्राण विद्यमान रहते हुए भी अन्न खाना छोड़ दिया जाय तो अधिक से अधिक चार दिन काम चल सकता है। यह अवधि बढ़ती गयी तो प्राण निकल जायगा। इससे सिद्ध हुआ कि प्राण अन्न के कारण टिकता है और प्राण के कारण अन्न पचता है। अर्थात् अन्न और प्राण दोनों एक दूसरे पर आधारित हैं। ठीक इसी प्रकार धर्म से अर्थ एवं अर्थ से धर्म का सम्बन्ध है। दोनों के परस्पर पोषक होने के बाद भी कुछ ऐसी चीजें हैं, जिन्हें हम विधान (एश्योरेन्सेज) मानकर चल सकते हैं कि जैसे अर्थ की बिल्कुल अभावात्मक स्थिति नहीं होती–कुछ न कुछ अर्थ रहता है। इसका धर्मानुसार उपयोग किया तो अर्थ से अर्थ रुपये से रुपया पैदा होता है– इसे सब मानते हैं। अर्थ साधन है, अर्थ से अर्थ की उत्पत्ति होने पर हम धर्मानुसार उसका उपयोग करेंगे। इसलिए हमारे यहाँ धर्म को सर्वोपरि माना है, धर्मानुसार चलने से अर्थ पैदा होगा और बढ़ेगा भी, अर्थ पैदा करने के बाद काम की प्राप्ति होती है। धनाद् धर्मः ततः सुखम् जहाँ धन तथा धर्म है, वहीं सुख है। धन का धर्मानुसार प्रयोग करने का आशय यह है कि जो धन हम पैदा करते हैं, उन सबका उपभोग हम अकेले ही न करें वरन् उसका कुछ भाग दूसरों को भी दें, इसीलिए अपने यहाँ दूसरों को देने के पहले स्वयं भोजन करने वाले को 'पापी' कहा गया है।

धन पैदा किया तो उसका उपभोग धर्मानुसार करना चाहिए, इसलिए धर्म जीवन के लिए अत्यावश्यक है। अर्थशास्त्र में कहा गया है। कि उपभोग से काम की प्राप्ति होती है। अपने यहाँ उपभोग भी धर्म के अन्तर्गत आता है। धर्मानुसार उपभोग किया तो शान्ति मिलेगी। काम की प्राप्ति एवं पूर्ति हो सकेगी। किन्तु काम भी धर्मानुसार ही वांछनीय है। ऐसा नहीं कि जो सनक आ गई, इच्छा हो गई वह प्राप्त

ही होना चाहिए। यह ठीक नहीं। काम मन का गुण है। मन चंचल है– मन कहीं का कहीं चला जाता है। जो नहीं करना चाहिए वह भी करता है। इसलिए चंचल है–इसलिए चंचल मन को लगाम लगा कर रखने की जरूरत है। इन्द्रिय रूपी घोड़े को बुद्धि रूपी लगाम चाहिए। बुद्धि उसे ठीक प्रकार खीच कर रख सकेगी। वह आत्मा जो रथ में बैठी है, ठीक तरह बैठी रह सकेगी। इसलिए बुद्धि से सारथी का काम लेना पड़ेगा।

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च।।

लगाम को यदि ढीला छोड़ दिया तो इन्द्रिय रूपी घोड़े गलत मार्ग पर चले जायेंगे। बुद्धि को भी नियंत्रण में रखना पड़ेगा, क्योंकि आपके पैर जिनको मन्दिर की ओर जाना चाहिए, वह मधुशाला की ओर मुड़ सकते है। धर्मानुसार न होने पर बुद्धि भी कहीं से कहीं ले जा सकती है।

मन का गुण काम है। उसकी तृप्ति, बुद्धिपूर्वक हो और बुद्धि का आधार धर्म हो तो धर्म का आधार लेकर काम करने वाले लोग बुद्धि से अच्छा काम करेंगे और सुख भी मिलेगा। इसीलिये कहा गया कि अर्थ, धर्म के लिए हो तो उससे धर्म बढ़ता है। धर्म जितना बढ़ता जाता है, उससे अर्थ–काम के सेवन की इच्छा कम होती जाती है। इसके विपरीत होने पर धर्म घटता है और अर्थ काम की स्थिति समाप्त–सी हो जाती है, उसमें से फिर प्रलय की स्थिति उत्पन्न होती है। इस प्रलयंकर स्थिति को रोकने का एक मात्र साधन यही है कि अर्थ और काम को धर्म के आधार पर पैदा करें। हमारे अन्दर "धर्म की वृत्ति' चाहिए। हर एक मनुष्य की अलग–अलग वृत्ति हुआ करती है। वृत्ति का अर्थ प्रवृत्ति नहीं वरन् व्यवसाय समझना चाहिए। हर एक व्यक्ति को धन्धा चाहिए, उसी में से वह अर्थ पैदा कर सकेगा। वृत्ति की व्यवस्था न होने पर अर्थोपार्जन भी न हो सकेगा। इसलिए हर एक व्यक्ति को काम चाहिए, उसकी गारण्टी चाहिए। यदि धन्धे की गारण्टी नहीं है तो बाकी चीजें भी नहीं चल सकती। हर एक व्यक्ति को काम मिलना ही चाहिए और हम ये मानकर चलते है कि यहाँ हर एक को काम मिलेगा, क्योंकि यह भूमि तो कर्म–भूमि है। हम यहाँ कर्म करने के लिए पैदा होते है, स्वय देवता भी जब पुण्य क्षीण हो जाते है और जन्म लेते है तो वह भारत में जन्म लेना चाहते हैं कि वहाँ जाकर कर्म करेंगे और कर्म करके ही पुण्य का फल भोगने हेतु स्वर्ग जायेंगे। मनुष्य कर्म करे और पुण्य कर्म करे तो उसका जो फल मिलेगा, उसकी प्रकृति के नियमानुसार गारण्टी है। 'कर्मफल' का सिद्धान्त यही है। जो कर्म करेगा उसका फल उसे अवश्य मिलेगा।

कर्म प्रमुख वस्तु है। यही समाजव्यवस्था का मूलगामी विचार है कि कर्म

सिद्धान्त के अन्तर्गत किसी को भी विहित कर्म से अथवा उसके फल से विरत नहीं किया जा सकता। कर्मसिद्धान्त के इस न्याय का पालन करने की जिम्मेवारी पश्चिमी विचारपद्धति में केवल राज्य को सौंपी गई है। वहाँ राज्य सर्वोपरि है। भारतीय पद्धति में इसके लिए अनेक स्तरों पर विभिन्न संस्थाओं का निर्माण किया जायगा। व्यवसाय, वर्ण, कुटुम्ब आदि कितने ही स्तरों पर कर्म की गारण्टी प्रदान की गई और इस सम्पूर्ण अर्थ–काम को एक ही सत्ता धर्म के अन्तर्गत रखा गया।

धर्म संरक्षण के लिए अर्थ

अब इस पुरुषार्थ का दूसरा अंश 'अर्थ' जिसे आज राजनीति में पृथक् नहीं समझा जाता तथा प्राचीन काल में शास्त्रों में जिसे 'दण्डनीति' कहा गया है– उसका विचार करें। दण्डनीति का साधारण अर्थ हम राज्य से ले सकते हैं। राज्य की काफी महिमा बताई गई है। हम विचार करके देखें कि यह दण्ड कहाँ से आरम्भ होता है। इसकी आवश्यकता क्यों पड़ी ? राज्य क्यों आया ? कैसे आया ? यह स्वाभाविक प्रश्न है। कहते हैं, अति प्राचीनकाल में कोई राजा नहीं था। सब लोग धर्मावलम्बित थे तथा एक दूसरे के हित साधन का ध्यान रख कर चलते थे। यह 'कृतयुग का वर्णन है। जब धर्म ही धर्म था, अर्थ का लोभ नहीं था, इसलिए राजा की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु कालान्तर से लोगों में मोह उत्पन्न हुआ, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ध्यान जाता रहा, धर्म–अधर्म का विचार लुप्त होता गया। इस विचारविभ्रम में से लोभ पैदा हुआ, काम पैदा हुआ, राग पैदा हुआ। इस राग के परिणामस्वरूप क्या कहना–करना चाहिए और क्या नहीं कहना–करना चाहिए, किसका आदर करना चाहिए और किसका नहीं, इत्यादि जीवन के जितने नियम हैं, उन सबको व्यवहार में लाना भूल गये और ऐसा लगने लगा जैसे चारों ओर धर्म समाप्त हो गया।

समाज की इस स्थिति को 'मत्स्य–न्याय' का नाम दिया गया। एक दूसरे को खाने के लिए हर कोई तत्पर था, छोटे की कोई चिन्ता नहीं करता था। उस समय के ऋषियों ने सोचा कि इस स्थिति से विश्व का काम कैसे चलेगा ? सब मिल कर मनु महाराज के पास गये। उनको राजा बनने को कहा। उन्होंने कहा– यदि मै राजा बना तो दण्ड हाथ में लेकर, लोगों को कष्ट देकर नियंत्रित करना होगा। लोगों को दुःख देने का पाप मैं नहीं करना चाहता। तब प्रजापति ने समझाया कि सब ओर फैले अधर्म का निवारण करने के लिए जो दण्ड प्रयोग हुआ करेगा, वह अधर्म नहीं धर्म माना जायगा। उन्होंने व्यवस्था कर दी कि दण्ड के कारण प्रजा में प्रसूत पुण्य का एक अंश राजा को स्वयमेव प्राप्त हुआ करेगा। राजा पर भी यह बन्धन लगाया कि उचित व्यवस्था न कर पाने से सब लोग पाप करने लगेंगे तो उस अधर्म का भागी भी राजा ही होगा। यह पहली राज्य–व्यवस्था बनी।

इस प्रकार धर्म के रक्षणार्थ राजदण्ड लेने की परम्परा में मनु के बाद एक के बाद अनेक राजा आए। उनमें से एक राजा बेन नाम का आया। यह बड़ा पापी था। उसके पापों से प्रजा में भी पापकर्म फैल गये और समाज में फिर अव्यवस्था हो गयी। तब ऋषियों ने बेन को राजगद्दी से उतार कर उसका संहार किया और उसकी दाहिनी जंघा के मंथन से एक दैवी पुरुष उत्पन्न किया जिसका नाम पृथु था। उसने राज्य–दण्ड ग्रहण करते समय प्रतिज्ञा की कि मैं धर्म के आधार पर प्रजा का पालन करूँगा। उसके राज्य में पूर्ण सुव्यवस्था थी, यह धरती तभी से पृथ्वी कहलाई।

इस विवरण से एक तथ्य स्पष्ट होता है कि हमने धर्म के आधार पर लोकपालन और राज्य की व्यवस्था का विधान किया। केवल सत्ता भोग के लिए राज्य–स्थापना अपने जीवन का लक्ष्य नहीं। धर्म के लिए राज्य की आवश्यकता हुई, इसलिए धर्म की प्रेरणा से, धर्म की स्थापना के लिए ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों और मनीषियों आदि से प्रेरणा लेकर ही कोई व्यक्ति राजदण्ड हाथ में लेने को खड़ा हुआ। हमारे यहाँ अनाधिकार गद्दी छीन लेने की इच्छा रखने वाले नहीं हुए। नन्दवंश के विरुद्ध जब चन्द्रगुप्त खड़ा हुआ तो वह चाणक्य की प्रेरणा से ही। शुंगवंश के समय भी ऐसा ही हुआ। छत्रपति शिवाजी के सब प्रयत्न समर्थ गुरु रामदास जैसे सन्तों की प्रेरणा के आधार पर हुए। इस प्रकार राजा के अत्याचार देखकर, गुरु से प्रेरणा पाकर ही वीर लोग आगे आए। विजयनगर की स्थापना ऐसे ही हुई है। अतएव यहाँ लोगों ने राजदण्ड अपने हाथों में लिया तो सत्ता एवं प्रभुत्व के लिए नहीं वरन् धर्म–संरक्षण के लिए। राजा धर्म–संरक्षण के लिए आद्यान्त उत्तरदायी माना गया।

जब राजा लोक–धर्म का पालन करने वाला माना गया तो विचार किया गया कि लोकधर्म की व्यवस्था कौन बनाये ? राजा धर्म का बनाने वाला नहीं है। धर्म सनातन है, शाश्वत है, बिल्कुल आदिकाल से चला आ रहा है। उसका निर्माण नहीं किया जा सकता। केवल धर्म के नियमों का पालन करने के लिए युगानुरूप व्यवस्थाएँ की जा सकती हैं। धर्म तो आदि काल से ही मानव समाज के लिए एक प्रकृति–प्रदत्त वस्तु है। हम प्राकृतिक नियमों को जानते हैं, उनमें बदल नहीं होता। लोग भौतिक विज्ञान, पदार्थ विज्ञान पढ़ते हैं, सब चीजें प्रकृति के नियम के अनुसार ही चलती है। चुम्बक लोहे को खींचता है, यह प्रकृति का नियम है, इसमें बदल नहीं किया जा सकता। ऊपर फेंकी गई चीज पृथ्वी पर वापस गिरेगी ही, यह 'आकर्षण–शक्ति' का नियम है। इसका ज्ञान किया जा सकता है पर आकर्षण–शक्ति का नियम निर्माण नहीं किया जा सकता। इन्हीं प्राकृतिक नियमों की भांति ही हमारी एक जीवन–पद्धति है। उसके शाश्वत नियम हैं। जीवन की सारी बातें उन्हीं के

अनुसार चलती है। हम उन नियमों का ज्ञान कर सकते है। और इसीलिए धर्म का आधार 'धृति' बताया। 'धृति' याने चारों वेद–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। श्रुति का अर्थ है सुना हुआ। अतीन्द्रिय दृष्टि रखने वाले द्रष्टा मुनियों को ज्ञान का उद्‌भव हुआ– उस सत्य ज्ञान की पहचान कर जब प्रत्यक्ष सुनाया तो श्रुति बनी। स्मृतियाँ, श्रुति के अवरोधी रूप में उसके बाद बनीं। राजा का काम स्मृतियों का निर्माण नहीं, धर्म का संरक्षण एवं संवर्धन है। उस पर लोक–धर्म के पालन का उत्तरदायित्व है। जो व्यवस्था बनी वह ठीक चलती है या नहीं इसका दायित्व राजा के ऊपर है।

आज तो कहीं–कहीं 'लेजिस्लेचर' और 'एक्जीक्यूटिव पावर्स' एकत्रित कर दी गई हैं, जैसे पार्लियामेण्ट। इसे विधायिका–शक्ति कहा और उसक, संपादन करने वाले कार्यकर्ताओं को भी उसी के प्रति सीधे उत्तरदायी बताया। यह व्यवस्था अपनी परम्परा के बिल्कुल प्रतिकूल है। हमने राजा से कहा कि बनाये हुए नियमों पर चलना चाहिए, ये नियम ऐसे व्यक्तियों द्वारा बनाये जाते रहे और बनाये जाना चाहिए जिनका नियम बनाते समय कोई स्वयं का स्वार्थ संलग्न नहीं रहता। जो सम्पूर्ण समाज के समन्वय का विचार कर सकता है– ऐसे व्यक्ति ही समाज के नियम बनाने वाले होने चाहिए। स्मृति और शास्त्र ऐसे लोगों द्वारा बनाये गये हैं। ऐसे लोग अब होंगे नहीं, ऐसी बात नहीं है। जितने शास्त्रकार ऋषि हो गये है, वे ही हमारे आखिरी मसीहा थे– हम ऐसा मानकर नहीं चलते। ऐसे लोग आगे भी होंगे– हम यही मानकर चलते है। ऐसे ही लोग कानून बनाने वाले हो सकते है। पर दूसरे लोग जो चार लोगों के स्वार्थ को भड़काकर, जब उनके प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले बनकर कानून बनाते हैं तो कानून की खींच–तान होती है और उसमें बेमेल कानून बनते है। जिसका बहुमत हो गया, जिस स्वार्थ पर चार लोग सहमत हो गए, वही चीज कानून बन जाती है। यह गलत चीज आज होती चली जा रही है।

प्रभुसत्ता–धर्म की

हमारे यहां धर्म के नियमों और उसकी व्याख्या का अधिकार राजा को कभी नहीं दिया गया। तब एक विचार आता है। कि आखिर समाज जीवन की प्रभुसत्ता 'सावरेण्टी' किसके पास रहेगी ? हमारे यहां यद्यपि शासक को विष्णु का अवतार माना गया किन्तु वह स्वेच्छाचारी, सर्वसत्तासम्पन्न कभी नहीं रहा। राजा यदि विष्णु का अवतार माना गया है, तो प्रजा भी 'जनता–जनार्दन' है। राजा ही कर्त्ता–धर्ता है, वह कोई भूल नहीं करता, 'किंग डज नो रांग, ऐसी बात हम लोगों ने नहीं मानी। हमारी मान्यता और पद्धति के अनुसार राज्याभिषेक के समय राजा तीन बार घोषणा

करता है, 'अदण्ड्योस्मि'–किन्तु उसी समय राजपुरोहित पलाश दण्ड से उसके सिर पर स्पर्श प्रहार करके कहता है 'धर्म ही तेरे लिए दण्ड हैं'। अर्थात् प्रभुसत्ता धर्म की है। धर्मदण्ड राजा पर भी शासन करेगा। आजकल कहते हैं– प्रभुसत्ता जनता में निहित है। किन्तु हमारे, यहाँ जनता को भी यह अधिकार नहीं दिया गया। जनता की प्रभुसत्ता तभी स्वीकार की गई जब राजा अपने कर्त्तव्य में प्रमाद करने लगे। उस समय प्रजा को विद्रोह करने का अधिकार है। आजकल जिसे 'इनहेरेण्ट राईट टु रिवोल्ट विद दि पीपुल' कहते हैं, अपने यहाँ वैसी कोई मान्यता नहीं है। हमारे यहां न तो यह कल्पना है कि राजा बार–बार प्रजा के सामने खड़ा होता रहे, जिसका एक वर्ग सतत् उसका विरोध करता रहे और दूसरा समर्थन, न यही कहा कि प्रजा राजा को हटा ही नहीं सकती। जब राजा प्रजा को सताएगा नहीं, जब धर्माचरण करने वाली प्रजा को दण्ड देने का अधिकार राजा को नहीं, वैसे ही प्रजा को भी अधिकार नहीं कि वह धर्मपालन करने वाले राजा को हटा दे। हमारे यहाँ कहा कि दोनों ही धर्म के अनुसार चलें। प्रभुसत्ता न राजा की है न प्रजा की, प्रभुसत्ता सदैव धर्म की मानी गई है।

हम समाजवादी नहीं, समन्वयवादी हैं

शासन सत्ता का कार्य आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था का निर्माण करना तथा बाहरी आक्रमणों से रक्षा करना माना गया। प्रजा के सुख और समृद्धि के लिए समाज की सुव्यवस्था के नाम पर राज्य जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र पर अधिकार कर ले, नियंत्रण कर ले तो उस स्थिति को हमारे यहां कल्याणकारी नहीं माना गया। आज जिस समाजवाद की चर्चा चारों ओर है उसमें इसी स्थिति को कल्याणकारी माना जा रहा है। उत्पादन और वितरण के सभी साधनों पर राज्य का कब्जा होना ही समाजवाद में अभिप्रेत है। जनता श्रमिक के नाते काम करने को बाध्य हो जाती है। किसी का स्वतंत्र स्वामित्व रह नहीं जाता। इस प्रकार का समाजवाद लाने के लिए वर्गसंघर्ष और खूनी–क्रांति का आह्वान किया जाता है। यह समाजवाद शान्तिपूर्ण कहे जाने वाले ढंग से भी लाने का यत्न होता है। व्यक्ति और समाज के हितों में संघर्ष मान कर व्यक्ति स्वातन्त्र्य को सीमित करने की इस पद्धति में मनुष्य मशीन का पुर्जा मात्र रह जाता है। इस प्रकार के समाजवाद में व्यक्ति और समाज का यह सम्बन्ध भारतीय संस्कृति और परम्पराओं से मेल नहीं खाता। हम इस प्रकार के समाजवादी नहीं है और न ही पश्चिम की विचारधारा के अनुरूप व्यक्तिवादी ही हैं। हमारे उपनिषदों में कहा गया है। कि जो व्यक्ति की उपासना करता है, वह अंधकार में पड़ता है। भारतीय पद्धति के अनुसार दोनों को समन्वय चाहिए। व्यक्तिवाद की उपासना कर मृत्यु को जीतना चाहिए और समष्टि की उपासना कर अमरता प्राप्त

करना चाहिए। व्यष्टि को समष्टि में विलीन करने के लिए हम प्रयत्नशील हैं। व्यष्टि मरणशील है जब कि समष्टि अमर है। बड़े–बड़े महान् व्यक्ति हो गये परन्तु व्यष्टि के नाते कोई अमरता को प्राप्त नहीं हुआ। राजा भोज के बचपन की एक कथा इस सम्बन्ध में बड़ी सारगर्भित है। मुंज की आज्ञा से जब जल्लाद भोज को जान से मार डालने के लिए जंगल में ले गये और उसके सिर पर तलवार चलाने के लिए तैयार हुए तो भोज ने उनसे प्रार्थना की कि मृत्यु के बाद उसका एक संदेश मुंज तक पहुँचा दिया जाय। जल्लादों ने यह बात मान ली। भोज ने अपने संदेश में कहा था कि 'बड़े–बड़े पृथ्वीपति महीपति, मान्धाता आए और चले गये। राम आये, कृष्ण आये, धर्मराज युधिष्ठिर आये, सबने राज्य भोगा, किन्तु जब वे एक के बाद एक चले गये तब भी पृथ्वी जहाँ की तहाँ रही। इस बार ऐसा प्रतीत होता है कि तुम यह पृथ्वी अपने साथ ही ले जाओगे। आशय यह है कि व्यक्ति चला जाता है, समाज रहता है और रहेगा। यदि व्यक्ति को स्वतंत्र होना है तो समाज स्वतंत्र चाहिए। यदि व्यक्ति को अमर होना है तो समाज अमर होना चाहिए। व्यक्ति का समर्पण समाज के लिए जरूरी है। साथ ही व्यक्ति को समर्थ बनने और विकास करने में सब प्रकार की स्वतंत्रता देने का कार्य समाज का है। यह व्यष्टि और समष्टि का सम्बन्ध हम लोगों ने स्वीकार किया है। इस प्रकार से हम समाजवादी नहीं समन्वयवादी है।

समाज याने राज्य नहीं

साथ ही आज के प्रचलित समाजवाद में 'समाज' शब्द की कल्पना में जिस प्रकार 'राज्य' को एकमात्र और सर्वोपरि प्रतिनिधित्व करने वाली समष्टि सत्ता मान लिया गया है, वैसी वैचारिक मान्यता हमारी नहीं है। हमारे 'समाज' शब्द की कल्पना में केवल 'राज्य' का ही समावेश नहीं है। व्यक्ति से लेकर राज्य तक हमने अनेक इकाइयाँ मानी हैं जो समष्टि का प्रतिनिधित्व करती हैं। उदाहरणार्थ कुटुम्ब एक महत्त्वपूर्ण इकाई है जो समष्टि की द्योतक है जहाँ व्यष्टि तथा समष्टि के सम्बन्धों का पूरा–पूरा सार–सम्बन्ध प्रस्थापित होता है। इसी प्रकार हमारे यहाँ ग्राम पंचायतों की व्यवस्था भी अति प्राचीन काल से रही है। यह भी समष्टि की इकाई है। ध्यान देने योग्य बात है कि हमारे प्राचीन भारत की व्यवस्था में ये पंचायतें आज जैसी राजाज्ञा पर चलने वाली पंचायतें नहीं थीं। आज ग्राम पंचातों को मंत्रीगण बनाते हैं, विधायक इनके कर्तव्य और अधिकार की सीमा आंकते हैं, इंस्पेक्टर जाँच के लिए नियुक्त होते हैं तथा पंचों को निकालने व नियुक्त करने की व्यवस्था की जाती है। चुनाव के अखाड़ों में उनका स्वरूप भरपूर विकृत किया जाता है। इस प्रकार की ग्राम पंचायतों का स्वरूप हमारे यहाँ तब नहीं था। उस समय ग्राम पंचायतें स्वतंत्र और स्वयं–भू इकाइयाँ थीं जो आदिकाल से चली आती रही हैं। राजा उन्हें आदेश

नहीं दे सकता था। राजा के पास एक समिति होती थी जिसमें ग्राम पंचायत के प्रतिनिधि बैठते थे। इस प्रकार ग्राम पंचायतों की बातें राजा को सुननी पड़ती थीं। राजा की यह समिति कानून बनाने के लिए नहीं थी बल्कि केवल शासन चलाने के लिए कार्यपालिका सत्ता थी। ये प्रतिनिधि राजा के अभिषेक में भाग लेते थे, व्यवस्थाओं में अपनी सम्मति देते थे। स्पष्ट सिद्ध है कि ये राजा की कृपा पर निर्भर नहीं रहती थीं। उल्टे राजा ही इनके आधार पर खड़ा रहता था।

राज्याभिषेक के समय वैदिक ऋषियों का राजा को यह सम्बोधन भारतीय मान्यता को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है–

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवाः।
सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु उपसद्यो नमस्यो भवेह।। (अथर्व. ३–४–२.१)

अर्थात् "हे राजन! सब प्रजा अपने राज्यशासन के कार्य के लिए तुम्हें स्वीकार करे। पाँचों प्रकार के प्रजाजन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद– तुम्हें ही चाहें। सब प्रजा तुम्हें ही बुलावे और तुम सबके आदर–भाजन बनो।"

भारतीय विद्वानों का यह मत था कि 'विशि राजा प्रतिष्ठितः प्रजा के आधार से राजा रहता है और राजा भी मानता था कि 'विशो मे अंगानि सर्वतः' प्रजाजन ही मेरे शरीर के अवयव हैं।

ऋग्वेद में वर्णित राज्यशासन के उद्देश्य 'विश्वे जनासः शर्मन्' सब लोगों को सुख मिले, के अनुसार परस्पर एकात्मता के साथ जो सुव्यवस्था होती थी उसी आधार पर छांदोग्य उपनिषद् का यह मन्त्र प्रकट हो सका, जिसमें कहा गया है कि–

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरो स्वैरिणी कुतः।।

अर्थात् मेरे राज्य में चोर, कंजूस, मद्यप, अयाजक, अज्ञानी, स्वैराचारी नहीं हैं, फिर स्वैरिणी कहाँ से मिलेगी?

इस व्यवस्था में प्रजा द्वारा नियुक्त ग्राम की ग्रामसभा, राष्ट्र की राजसमिति, राष्ट्र का नियमन करने वाला मंत्रिमंडल आदि विभिन्न श्रेणियाँ थीं। ये अपने कार्य के आधार पर आचरण–धर्म (कोड आफ कण्डक्ट) निर्धारित करती थीं। इसके विपरीत कार्य करने वालों का यह श्रेणी बहिष्कार कर सकती थीं। सामूहिक हितों के विपरीत आचरण करने वालों को बहिष्कृत किया जाता था। यह भय लोगों को आचरण–धर्म का ठीक–ठीक पालन करने के लिए प्रेरित करता था। यद्यपि

कालान्तर में इसमें भी कई प्रकार के विकार और संकुचितता आ गई। रूढ़िवादिता घुस गई। तथापि मूलतः यह पद्धति सर्वस्पर्शी पद्धति थी, जिसका दण्ड भी जीवन के ऊपर समग्ररूप से प्रभाव डालता था। क्योंकि उसमें आज की तरह 'फंक्शनल रिप्रेजेन्टेटिव' नहीं थे। प्राचीन वर्णन में मिलता है कि यहाँ सब जातियों और वर्णों के प्रतिनिधि बैठते थे। उनकी संख्या भी निश्चित थी। प्रतिनिधियों में सर्वाधिक संख्या वैश्य और शूद्रों की रहती थी जो क्रमशः २१ और ४० रहती थी। शेष ब्राह्मण या क्षत्रिय चार या छह रहते थे। इसके अनुसार सभी प्रतिनिधि मिलकर मंत्रिमण्डल बनाते थे जिसके सहारे राजा राज्य कार्य सम्पन्न करता था। राजा बिना समिति और मंत्रिमण्डल के जो चाहे कर डालने में स्वतंत्र न था।

इस सम्बन्ध में एक बड़ी सुन्दर कथा है। कहते हैं कि सम्राट् अशोक ने एक बार यह तय किया कि वह सम्पूर्ण राज्य की सम्पत्ति बौद्ध–विहार को भेंट कर देगा। यह प्रस्ताव जब मंत्रिमण्डल के समक्ष आया तो उसने ठुकरा दिया। अन्त में अशोक ने विवश होकर बौद्ध–विहार को आवला भेंट किया और कहा कि "इतना ही केवल मेरा है, शेष सब राज्य की सम्पत्ति है, मैं कौन हूँ जो उसे दे डालूँ।" राज्य इसी आधार पर चलते थे। इकाइयों के रूप में हमने उसके क्षेत्र बाँटे और उनकी स्वतंत्र व्यवस्था में कभी दखल नहीं किया।

उसी प्रकार शिक्षण केन्द्रों के कुलपति प्रमुख थे। वही सबके खाने–पीने, पढ़ाई–लिखाई आदि का सब प्रबन्ध करते थे। राजा को केवल इस व्यवस्था के लिए धन देना होता था। शेष प्रजा भी उनको धन–सम्पत्ति दान देती थी। विद्यार्थी ग्रामों में भिक्षा लेने जाते थे और सब गृहस्थ भिक्षा देते थे। सभी ध्यान रखते थे कि विद्यार्थी खाली हाथ न लौट जायें। कुलपति इसी भाँति समाज से, राज्य से सब कुछ संग्रह कर विद्यालय का काम चलाता था। राजा भी यदि पढ़ने जाता तो उसके लिए भी वही करणीय था। राजा इसमें केवल 'सुपरविजन' करता था। धर्म के नियंत्रण से उसका काम राज–दण्ड का पालन भर था। शेष क्षेत्रों में उनकी अपनी–अपनी स्वतंत्र व्यवस्था थी। इसी तरह कुटुम्ब भी एक स्वतंत्र इकाई थी। उसमें राजा का दखल नहीं था। कुटुम्ब में अव्यवस्था होने पर ही राज–दण्ड का प्रयोग मान्य था। राजदण्ड का प्रयोग उस स्थिति में सर्वदा होता भी था।

विकेन्द्रित याने विघटन नहीं

इस तरह का अपना जो समाज था, कह सकते हैं कि उसका कोई एक मात्र संचालन–केन्द्र नहीं था। किन्तु प्रचलित अर्थ में जिसे विकेन्द्रित–व्यवस्था कहा जाता है उससे भी यह भिन्न था। आज विकेन्द्रित का अर्थ ऐसा लिया जाता है कि केन्द्र से टूट जाना, दूर हट जाना। इस अर्थ में यदि एक केन्द्र नष्ट हो गया, उसकी

शक्ति क्षीण कर दी गई तो कोई केन्द्र ही शेष नहीं बचता। इसलिए टकराव, संघर्ष, विघटन अनिवार्य मान लिया जाता है। हमारे यहाँ विकेन्द्रित व्यवस्था का अर्थ था कि यदि किसी केन्द्र की शक्ति क्षीण भी हो जाये तो अन्य व्यवस्थाएँ समष्टि के हितसाधन में अपना–अपना निर्धारित दायित्व बिना किसी परेशानी के वहन कर सकें। वास्तव में हमारे समाज–जीवन में संचालन के अनेक केन्द्र रहे हैं। एक व्यक्ति जो अपने परिवार का सदस्य है, पंचायत का अंग है, व्यवसाय–श्रेणी में सदस्य है, राज्य का भी अंग है। इन सब केन्द्रों के साथ जीवन में समन्वय बैठाकर काम चलाता जाये। ऐसी समाज–व्यवस्था और उसके लिए अनुकूल राज्य–व्यवस्था भारत में विकसित की गई। साथ ही एक बात और कि जो भी राज्य रहा उसके लिए धर्म का एक ही आदेश रहा कि **"पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट् इति"** समुद्रपर्यन्त यह पृथ्वी एक राष्ट्र है। अश्वमेध, राजसूय आदि जितने भी अनेक यज्ञ बनाये गये, उनसे राजा के राजदण्ड के प्रभाव की प्रस्थापना होती थी। राजा जो यज्ञ करता था, वह सम्पूर्ण भारत को एकता के सूत्र में बाँधने का यत्न करता था। राम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषों ने सम्पूर्ण भारत में एकछत्र साम्राज्य प्रस्थापित किया। भारत की एकता का यह सिद्धान्त हम लोगों ने स्वीकार किया। यहाँ का राष्ट्रजीवन अविभाज्य रहा। इसका कभी विभाजन या बंटवारा न हो सका। सम्पूर्ण भारत में एक ही साम्राज्य है, एक ही रहना चाहिए। एक ही अधिसत्ता रहनी चाहिए जो कि अनेक सत्ताओं द्वारा बनी हो। सम्पूर्ण समाज का काम चलता जाये, इसलिए 'टेरीटोरियल व सेक्शनल' आधारों पर विद्यमान अनेक केन्द्रों को जोड़कर एक केन्द्र बने। परन्तु सम्पूर्ण अधिसत्ता एक ही बनाये रखने का आग्रह रहा। राजनीति का यह आदर्श हमारे पूर्व–पुरुषों ने रखा है। भारतीय परम्परा है कि राज्य धर्माधिष्ठित हो, धर्मनिष्ठ हो। अतएव आज भी यदि हम आदर्श जीवन–व्यवस्था को लाना चाहते हैं तो वह धर्म का आधार लेकर ही आयेगी। यदि इसके विपरीत हुआ तो वह व्यवस्था अभारतीय विचारों को लादना होगा, वह ग्राह्य न होगी और न टिकेगी ही। आज के युग में ये बातें कुछ अटपटी सी लग सकती हैं। जहाँ धर्म को ही मनुष्य का शत्रु मान लिया गया हो वहाँ समूचे शासनतंत्र को धर्म पर अधिष्ठित करने की बात जल्दी समझ में नहीं आ सकती। पर हम स्मरण रखें कि जब तक इस समस्या पर इतना मूलगामी विचार नहीं होता, मानव की सर्वांगीण उन्नति का मार्ग अवरुद्ध बना रहेगा।

धर्मतत्त्व का सार

धर्म का मुख्य तत्त्व है 'धारणा शक्ति'। धर्म और अधर्म का विचार करने पर महाभारत का एक वाक्य स्मरण हो आता है, जिसमें कहा गया है "कभी दूसरों से

ऐसा व्यवहार न करो जो यदि तुम्हारे साथ किया जाय तो तुम्हें कष्टदायक लगे।" वस्तुतः समष्टि धर्म का आधार आत्मीयता ही है। सम्पूर्ण समाज के प्रति यह अपनेपन का भाव मन में लेकर 'अहम्–भाव' हटाकर आत्मीयता का भाव जगाना ही सच्चा धर्म है। इसी से समाज की धारणा होती है।

हम यज्ञ करते हैं। यज्ञ करते समय कहते हैं "इदं न मम" यह मेरा नहीं है। यज्ञ के उपरान्त जो बचता है, उसे हम भगवान के प्रसाद–स्वरूप ग्रहण करते हैं। ऐसा नहीं कि यज्ञ बाद में हो और प्रसाद पहले बँट जाय। हमारे यहाँ तो कहा गया है कि जितना हम पैदा करते हैं– वह सब मेरा नहीं। एक व्यक्ति वेतन पाता है तो वह सारे वेतन का उपभोग स्वयं के लिए नहीं करता। वह रुपये लोकर पिताजी या माताजी को दे देता है और उस धन का उपयोग सम्पूर्ण परिवार की आवश्यकताओं के लिए किया जाता है। हम जब भोजन करते हैं तो कहते हैं कि **"त्वदीयं वस्तु गोविन्दं तुभ्यमेव समर्पये"** भोजन भी हम स्वयं के लिए नहीं करते। इसलिए करते हैं कि यह जो ईश्वर की अपार कृपा के कारण हमको मानव–शरीर मिला है, इसका संरक्षण हो सके ताकि धर्म–संरक्षण के ईश्वरीय कार्य के लिए इस शरीर का समुचित उपयोग हो सके। मैं केवल अपना ही नहीं दूसरों का भी विचार करूँगा। इतना विचार मात्र हमारे अन्दर आ जाय तो हम कहेंगे कि हम धर्म के आधार पर खड़े हैं।

युधिष्ठिर के बारे में कहा गया है कि उन्होंने अपना ही नहीं दूसरों का भी विचार किया इसीलिए वे धर्मराज कहलाये। एक बार पांचों पांडव कुन्ती के साथ जंगल में जा रहे थे। जाते–जाते कुन्ती माता को प्यास लगी। पानी लाने के लिए भीम एक तालाब के पास गये। वहाँ उन्हें यक्ष ने रोका और कुछ प्रश्न पूछा। उचित उत्तर न पाने पर वह क्रोधित हो गया और भीम को बेहोश कर डाला। काफी देर के बाद भी भीम के न लौटने पर अर्जुन उसकी सुधि लेने गये और अर्जुन का भी वही हाल हुआ। फिर क्रमशः सहदेव और नकुल गए, पर उनका भी वही हाल हुआ और अन्ततोगत्वा युधिष्ठिर स्वयं गये। यक्ष ने युधिष्ठिर से भी वही प्रश्न पूछा। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, यक्ष प्रसन्न हो गया और कहा– जाओ, पानी ले लो और किसी एक भाई के पुनर्जीवन का वरदान माँग लो। युधिष्ठिर ने कहा यदि तुम स्वयं ऐसा कहते हो तो नकुल अथवा सहदेव में से किसी एक को जीवित कर दो। यक्ष को आश्चर्य हुआ। उसने कहा– अर्जुन और भीम जैसे महापराक्रमी भाइयों को छोड़कर तुम इनको जिन्दा करने के लिए कहते हो, यह बात मेरी समझ में नहीं आती। अर्जुन गाण्डीवधारी है, भीम अति बलशाली पुरुष है। तुम उनको क्यों नहीं माँगते ? युधिष्ठिर ने सहज उत्तर दिया– हमारी दो माताएँ हैं, कुन्ती और माद्री। सौभाग्य से कुन्ती का एक पुत्र मैं जीवित हूँ। माद्री का भी एक पुत्र जीवित रहे– इसलिए तुम नकुल अथवा सहदेव में से किसी को भी जीवित कर दो। उन्होंने वहाँ

यह विचार नहीं किया कि अर्जुन धनुर्धारी है, भीम अतीव बलशाली योद्धा है। विचार किया तो केवल धर्म का किया और कहते हैं कि इस उत्तर से यक्ष इतना प्रसन्न हो गया कि उसने चारों भाइयों को जीवित कर दिया।

हम तो इसी प्रकार से धर्म का विचार चाहते हैं। यही हमारा आदर्श है। 'मम इति मृत्युः' ममत्व ही मृत्यु है। 'न मम' ही अमरता है। यह मेरा नहीं सबका है और इसीलिए राष्ट्र का है। इस प्रकार का भाव ही सच्चा राष्ट्रभाव है। इसी में त्याग की वृत्ति पैदा होती है। इसी वृत्ति से जीवन की सारी समस्याओं का हल निकल आता है।

अतः राष्ट्र के चिर जीवन के लिए समष्टि भाव का जागरण आवश्यक है। आज राष्ट्रात्मा कमजोर हो गई है। एकात्मता के बन्धन ढीले पड़ गये हैं। आत्मीयता का स्थान घृणा ने ले लिया है। इसी राष्ट्रभाव के ह्रास से अनेकों समस्याओं को जन्म मिला है। इन समस्याओं का ऊपरी निदान समस्या का स्थायी हल नहीं प्रदान कर सकता। यह एक त्रिकालाबाधित सत्य है कि राष्ट्रभाव को छोड़कर कोई भी राष्ट्र उन्नति नही कर सकता, न अतीत में कर सका है, न भविष्य में कर सकेगा। अतः राष्ट्रोद्धार का विचार करने वाले देशभक्त को इस मूल समस्या पर विचार करना चाहिए। जब तक धर्म और संस्कृति के बारे में पूर्वाग्रह छोड़कर उसके व्यापक और सनातन तत्त्व का साक्षात्कार कर राष्ट्रजीवन को सुदृढ़ बनाने का प्रयास नहीं होता, तब तक हमारी सर्वांगीण उन्नति का पथ अवरुद्ध ही रहेगा।

☆

जीवन-झाँकी

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय

११ फरवरी १९६८ को भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष पं. दीनदयाल जी उपाध्याय का मृत शरीर मुगलसराय स्टेशन के यार्ड में पड़ा पाया गया। इस षड्यंत्रकारी घटना का रहस्य अभी तक अज्ञात है भविष्य में इसका रहस्य प्रकट होगा। रहस्य जो भी हो भारतीय प्रजातन्त्र के राजनीतिक क्षितिज पर विचार, कार्य और प्रगति की महान् आशाएँ लेकर जो अति दिव्य जीवन उभर कर सामने आ रहा था और अति प्राचीन भारतीय जीवन–दर्शन के आधार पर युगानुरूप नूतन व्यवस्थाएँ, मौलिक चिन्तन और दार्शनिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण व्यावहारिक व्याख्याएँ प्रस्तुत कर रहा था वह सहसा ओझल हो गया। देश के गौरवशाली अतीत से भव्य भविष्य को जोड़ने वाले वर्तमान का महान् शिल्पी चिर–निद्रा को प्राप्त हो गया। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में जन–साधारण के सुख–दुःख में समरस होते हुए नेतृत्व का सूत्र धारण करने वाला महान् नेता दिवंगत हो गया। समस्याओं से भरे देश में सब प्रकार के समाधान निकाल सकने का विश्वास दिलाने वाला प्रकाश पुंज बुझ गया। सरल व्यवहार, सादा जीवन, उच्च विचार, प्रदीप्त अन्तःकरण और कर्मठता की मूर्ति सहसा विगलित हो गयी। इसीलिये जनसंघ के वर्तमान अध्यक्ष पं. अटलबिहारी बाजपेयी ने कहा कि, "सूर्य ढल गया अब हमें तारों के प्रकाश में मार्ग खोजना होगा।" निस्संदेह पं. दीनदयाल जी इतने नम्र और सरल थे कि उनकी महानता पहचान पाना कठिन था और वे इतने महान् थे कि उनके आस–पास की हर वस्तु ध्येय–समर्पित थी।

पं. दीनदयाल जी उपाध्याय का जन्म आश्विन मास वि.स. १९७३ में कृष्णपक्ष की त्रयोदशी तदनुसार २५ सितम्बर १९१६ को हुआ था। उनके नाना पं. चुन्नीलाल शुक्ल जयपुर–अजमेर रेलवे लाइन पर स्थित ग्राम धनकिया में स्टेशन मास्टर थे। पं. दीनदयाल जी का जन्म नाना के घर इसी ग्राम में हुआ। उनके पिता का नाम

श्री भगवती प्रसाद उपाध्याय था और वे उत्तर प्रदेश में जलेसर रोड रेलवे स्टेशन पर स्टेशन मास्टर थे। आपके पितामह पं. हरीराम जी शास्त्री ज्योतिष शास्त्र में अपने समय के अति प्रसिद्ध विद्वान माने जाते थे। बताया जाता है कि पं. हरीरामजी शास्त्री की मृत्यु पर आगरा और मथुरा में उनके सम्मानार्थ शोक हड़ताल भी हुई थी।

बाल्यकाल में जब उनकी आयु लगभग ७ वर्ष की ही थी कि उनके माता–पिता का देहान्त हो गया और उनका पालन–पोषण उनके मामा श्री राधारमणजी शुक्ल के घर में हुआ। विपत्तियों एवं प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझने का क्रम इस प्रकार बाल्यकाल से ही उनके लिये प्रारम्भ हो गया।

बाल्यकाल में माता–पिता की स्नेह छाया से वंचित होने का दुःख सम्पूर्ण जीवन को जर्जर कर देने के लिये पर्याप्त होता है दुर्भाग्य की इस चपेट से बिरले ही उबर पाते हैं। कोमल आयु में स्वावलम्बन और कष्ट सहने की परीक्षा निस्संदेह कठोरता ही गिनी जावेगी। नन्हें बच्चे जब प्यार–दुलार से थपकियाँ पा रहे हों तब कोई एकाकी बालक सिसकियों को पीकर मुट्ठी में दुर्भाग्य को दबोचने का यत्न करें तो यह उसकी अपने प्रति कठोरता ही मानी जावेगी। सचमुच अपने प्रति कठोरता बरतने और कर्म में ध्यान एकाग्र करने का मंत्र पं. दीनदयालजी ने बाल्यकाल में ही ग्रहण किया। विद्यार्जन की सीढ़ियाँ सफलतापूर्वक चढ़ते गये और उन्होंने अजमेर बोर्ड की मैट्रिक की परीक्षा सीकर के कल्याण हाई–स्कूल से जब उत्तीर्ण की तो उन्हें स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ। वे सम्पूर्ण बोर्ड में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए थे। एकाग्रता के साथ मन और बुद्धि को नियोजित कार्य में लगाने से भला कौन–सी बाधा है जो जीती न जा सके और कौन–सी परीक्षा है जिसमें सफल न हुआ जा सके। यही क्रम चल पडा। दो वर्ष पश्चात् पिलानी (राजस्थान) से जब उन्होंने इण्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की तो वे प्रथम श्रेणी में ही थे। कानपुर के सनातन धर्म कालेज से बी.ए. की परीक्षा भी उन्होंने प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण की।

यह वह समय है जब कानपुर में सन् १९३७ में उनका सम्पर्क राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से हो गया। उत्तर प्रदेश में संघ कार्य की नींव रखने वाले माननीय श्री भाऊराव जी देवरस से उनका परिचय उनके लिए राष्ट्र समर्पित जीवन जीने का व्रत अंगीकार करने का महामंगल क्षण बन गया। मेधा को लक्ष्य मिला और उनकी शक्तियां राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य में अधिकाधिक नियोजित होने लगीं।

कानपुर के सनातन धर्म कालेज से बी.ए. उत्तीर्ण करने के बाद यद्यपि वे आगरा से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. करने के लिए सेण्ट जान्स कालेज में प्रविष्ट हुए, प्रथम वर्ष उन्होंने उत्तीर्ण किया किन्तु वे एम.ए. के द्वितीय वर्ष की परीक्षा ने दे सके।

इस समय वे आगरा में अपनी आजी और बहन (सगी नहीं) के साथ रहते थे। बहिन का स्वास्थ्य खराब हो गया और उसकी सेवा–शुश्रूषा के लिए उन्हें उसे पहाड़ पर निसर्गोपचार हेतु ले जाना पड़ा। इसी कारण उन्होंने एम.ए. के द्वितीय वर्ष का अध्ययन स्थगित कर दिया।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक के नाते वे सन् १९४२ में लखीमपुर जिले में नियुक्त हुए। शिक्षा कार्य में योगदान देने के लिए यदा–कदा वे वही के एक हाईस्कूल में निःशुल्क अध्यापन का कार्य भी किया करते थे। उनकी अद्वितीय प्रतिभा, उच्च चरित्र और व्यवहार कुशलता से प्रभावित होकर स्कूल के प्रबन्धकों ने उन्हें मुख्याध्यापक का स्थान देने की इच्छा प्रकट की किन्तु श्री दीनदयाल जी ने उसे अमान्य कर दिया। तीन वर्ष के कार्यकाल में ही वे उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सहप्रान्त प्रचारक बन गये। सन् १९५१ में जनसंघ के निर्माण तक वे इसी क्षेत्र में इसी दायित्व से कार्य करते रहे।

इस बीच पं. दीनदयाल जी ने न केवल संघ शाखाओं के विस्तार का संगठन कार्य किया वरन् संघ पर प्रतिबन्ध लगने के काल–खण्ड में समाचारपत्र तथा पुस्तक प्रकाशन का साहित्यिक कार्य भी सफलतापूर्वक किया। 'सम्राट् चन्द्रगुप्त', 'जगद्गुरु शंकराचार्य' नामक दो पुस्तकें आपने लिखीं। इसके अतिरिक्त 'राष्ट्रधर्म' (मासिक) और 'पाञ्चजन्य' (साप्ताहिक) का भी सम्पादन किया। लखनऊ में 'राष्ट्रधर्म प्रकाशन लिमिटेड' के संस्थापक भी आप बने।

भारत की राजनीति में कांग्रेस की राष्ट्र–विघातकी और अदूरदर्शी नीतियों के परिणाम स्वरूप पाकिस्तान का निर्माण होने के बाद कांग्रेस में सत्ता, राजनीति की दौड़ प्रारम्भ हो गयी। देश की आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक औद्योगिक सभी क्षेत्रों में गिरावट के आसार प्रकट होने लगे। ऐसे क्षणों में राजनीतिक क्षेत्र में नये नेतृत्व की आवश्यकता गूँज उठी। इसी महती आवश्यकता की पूर्ति में जब १९५१ में डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में अखिल भारतीय जनसंघ के निर्माण का विचार किया जा रहा था तब पं. दीनदयाल जी उपाध्याय ने २१ सितम्बर १९५१ को लखनऊ में प्रादेशिक सम्मेलन बुलाकर प्रदेश जनसंघ की स्थापना की। ठीक एक मास बाद २१ अक्टूबर १९५१ को दिल्ली में डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में अखिल भारतीय जनसंघ के निर्माण का विचार किया जा रहा था तब पं. दीनदयाल जी उपाध्याय ने २१ सितम्बर १९५१ को लखनऊ में प्रादेशिक सम्मेलन बुलाकर प्रदेश जनसंघ की स्थापना की। ठीक एक मास बाद २१ अक्टूबर १९५१ को दिल्ली में डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में अखिल भारतीय जनसंघ की भी स्थापना हुई। १९५२ में जनसंघ का प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन कानपुर में आयोजित

किया गया। प. दीनदयाल जी की संगठन कुशलता से जनसंघ का यह पहला अधिवेशन ही अत्यन्त सफल हुआ। इसी अधिवेशन में पं. दीनदयाल जी उपाध्याय को अखिल भारतीय महामन्त्री का पद सौंपा गया जिसे उन्होंने जनसंघ के कालीकट अधिवेशन सन् १९६७ तक निभाया। कानपुर से कालीकट तक जनसंघ के शीर्ष स्थान पर डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी, आचार्य रघुवीर जैसे अखिल भारतीय विद्वान विराजमान हुए किन्तु दुर्भाग्य से अल्पकाल में वे छिन गये। पं. दीनदयाल जी उपाध्याय ही ऐसे व्यक्ति थे जो इस रिक्तता के समय आशा और विश्वास के ज्योति–स्तम्भ बनकर मार्ग दर्शन का दायित्व निभाते रहे। काश्मीर का आन्दोलन हो या किसान मजदूरों का मोर्चा, पंचवर्षीय योजना हो या सामाजिक गुत्थी, सभी स्थानों एवं कार्यों में प. दीनदयाल जी का मार्गदर्शन देश को प्राप्त होता रहा। पं. दीनदयाल जी ने देश के सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के लिये गम्भीर सारयुक्त विचार–मंथन किया। इस सब में भी उनकी विशेषता यह थी कि वे तात्कालिक और छोटे से विषय को भी एक स्थायी सैद्धान्तिक अधिष्ठान देकर लिखा–बोला करते थे। उनका जीवन राष्ट्रहित समर्पित हुआ और राष्ट्र चिन्तना में ही निमग्न हो गया।

विधाता ने उन्हें जन्म से ही विपत्तियों में ढकेलने के जाल रच रखे थे किन्तु पं. दीनदयाल जी ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और कष्ट सहिष्णुता के बल पर सदैव प्रगति करने का ही संकल्प ले रखा था। वे अपने दैवीय गुणों के बल पर सदैव परिश्रम, त्याग, लगन का परिचय देते हुए ऊपर उठते गये। यह क्रम बाल्यकाल से प्रारम्भ हुआ और उनकी मृत्यु तक सतत चलता रहा। विधाता ने उन्हें बाल्यकाल में अनाथ बना दिया, विद्यार्थी जीवन में उनके स्नेह के मात्र आश्रय स्थान उनकी बहन को मृत्यु–मुख में भेजकर उन्हें विक्षिप्त बना देने की ठानी और जब कि वे यश, गरिमा के क्षितिज पर अध्यक्ष रूप में प्रतिष्ठित हुए थे, उन पर कालपाश ने चिरनिद्रा डालकर उन्हे लावारिस बना दिया। विधाता की क्रूरता ने उन्हें गुमनाम लाश तक बना दिया ताकि कोई उनका पता भी न पा सके। किन्तु हर बार वे अपने कर्त्तव्य के बल पर कुछ और ही बनते चले गये। दीनदयालु तो वे जन्म से ही थे, विधाता ने उन्हें जब अनाथ बना दिया तो वे कर्मयोगी बन गये, उन्हें विक्षिप्त किया, तो वे समाजसेवी कार्यकर्ता के रूप में सर्वत्यागी संन्यासी बन गये और अन्त में उन्हें लाश की गठरी बनाकर भुलाना चाहा तो वह भी उनकी जीवन–साधना उनकी यशःकाया बनकर कौंध उठी। प्रातः ९ बजे तक उनकी लाश लावारिस थी और १० बजे घटना का पता लगते ही सम्पूर्ण देश के आंसुओं एवं पुष्पांजलियों से पूजी जाने लगी। विधाता ने उन्हें एक मुट्ठी राख बनाना चाहा और वे चिता भस्म से उठकर जन–जन की स्मृतियों में सदैव–सदैव के लिये समा गये। विधाता की क्रूरता हाथ मलती हुई रह गई और श्री दीनदयाल जी ने अमरत्व का वरण कर लिया।

सचमुच वे जन्मतः नहीं कर्मतः महान् थे। अपने कर्मों के आधार पर ऊपर उठने का संदेश जन्म से लेकर मृत्यु तक उनके जीवन की प्रत्येक घटना में सतत् गुंजित हुआ है। एक वाक्य में यदि पं. दीनदयाल जी उपाध्याय के जीवन का सार व्यक्त करना हो तो इससे अधिक सार्थक और कुछ नही कि, "व्यक्ति अपने कर्मों के द्वारा पूजित होता है।"

उन्होंने संघर्षपूर्ण जीवन में सदैव कर्म की श्रेष्ठता को प्रस्थापित किया। कालीकट के अधिवेशन में उन्होंने सम्पूर्ण राष्ट्र को "**चरैवेति ! चरैवेति !!**" का जो संदेश दिया उसे उन्होंने स्वयं अपने जीवन में साकार कर लिया था।